ग्रन्थ-सख्या २०१

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस, इलाहावाद

प्रथम सस्करण
सवत् २०१३
मूल्य ३)

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
इलाहावाद

अपनी बात

"क्षणदा" में मेरे कुछ चिन्तन के क्षण मुखर हैं। इनमें न तर्क की प्रक्रिया है और न किसी जटिल समस्या को सुलझाने के निमित्त प्रस्तुत समाधान।

संगीत [illegible] आने पर गायक जैसे औरों के साथ और अपने गीत की संगति पर विचार करने लगता है, वैसे ही इनमें मेरे चिन्तन, भाव की सीमा-रेखा पर स्थित हैं।

क्षणों का समाहार ही जैसे दिन का संघटन कर लेता है, वैसे ही हमारे विचार और अनुभूति के क्षण, समय की अख-ण्डता का निर्माण कर लेते हैं। अपने लिये ही भाषा की सूक्ष्म [illegible] से नाप-नाप कर हमने समय को क्षण, घंटे, दिन, मास आदि में विस्तार दिया है। इस विस्तार में, जिसे मनुष्य ने [illegible] चिन्तन और अनुभूति की अविच्छिन्नता ने अनन्तता दी है, कोई क्षण न [illegible] है और न [illegible]।

आकाश के नक्षत्र जैसे हमारी दृष्टि में अलग दिखाई देने पर भी अपने आकर्षण-विकर्षण-परिवेश में परस्पर सम्बद्ध होते [illegible] हैं, इसी प्रकार हर मनुष्य के विचार और अनु-भूतियाँ भी [illegible] के [illegible] तथा अनुभूतियों के [illegible]

पित-विकंपित होने के कारण सश्लिष्ट और अनन्त है। उन्हें व्यक्त करने की इच्छा इसी अनन्तता की स्थायी स्वीकृति देने की इच्छा है।

किसी को इन क्षणो के मेले मे अपने खोये, पर परिचित कुछ क्षण मिल सकें, ऐसी कामना स्वाभाविक ही है।

प्रयाग
अनन्त चतुर्दशी
१९५६

—महादेवी

निर्देशिका

		पृष्ठांक
१	[illegible]	१
२	संस्कृति का प्रश्न	[illegible]
३	[illegible]	२५
४	[illegible]	[illegible]
५	[illegible] और हमारा [illegible] साहित्य	[illegible]
६	[illegible] विचार	[illegible]
७	दोष किसका	[illegible]
८	[illegible]	[illegible]
९	अभिनव [illegible]	[illegible]
१०	हमारा देश और राष्ट्रभाषा	[illegible]
११	साहित्य और साहित्यकार	[illegible]
१२	हमारे [illegible] की समस्या	[illegible]

क्षणदा

करुणा का सन्देश वाहक

पराजय के क्षणों में यदि अपना मूल्य बढ़ाने के लिए दूसरे का मूल्य घटा देने की दुर्बलता हममें न उत्पन्न हो गई होती तो बुद्ध और उनके सिद्धान्तों से अनुप्राणित संस्कृति को उतने बड़े कुहरे से न ढक लिया होता। साधारणतः बुद्ध का स्मरण होते ही हमारे सामने नारी जैसा करुण, कोमल, अश्रुप्लावित नेत्रों वाला एक निष्फल भावुक स्वप्नदर्शी आ जाता है। कहना व्यर्थ है कि यह चित्र वास्तविक बुद्ध से कोई साम्य नहीं रखता।

यह सत्य है कि उनके प्रवचन तक बहुत समय के उपरान्त लिपिबद्ध हो सके, परन्तु बौद्ध साहित्य में जो कुछ प्रामाणिक सिद्ध हो चुका है वह भी और जिसमें कल्पना का अंश अधिक है वह भी, बुद्ध के पर्वत जैसे व्यक्तित्व का ही आभास देता है, जिससे टकरा कर एक दिन गतिहीन भारतीय संस्कृति शत शत धाराओं में फूट कर बह चली थी।

जब हम अपने सामने ऐसे कर्मनिष्ठ तत्त्वान्वेषक को पाते हैं जिसने योग की शाखाओं तथा अन्य विचार धाराओं का अध्ययन किया, पूर्व प्रतिष्ठित अहिंसा धर्म के अनुसार कठिन तप सहा, इससे शान्ति न पाकर बहुत चिन्तन मनन के उपरान्त एक सहज मानव धर्म खोज निकाला, एकान्त से भीड़ में लौटकर प्रचलित

रुढियो, परम्पराओ और विश्वासो के विरुद्ध विजय यात्रा की और जीवन के सन्ध्या काल मे एक दिन अस्वस्थ शरीर से पैदल यात्रा करते करते थक कर मार्ग के एक ओर शाल वृक्षो के नीचे लेटकर दूसरी महायात्रा आरम्भ की, तब हम आँखें मल मल कर सोचते है—यह तो हमारी कल्पना की मूर्ति नही, यह तो वह बुद्ध नही।

बुद्ध के व्यक्तित्व में दो विशेषताएँ ऐसी है जिनका सयोग सहज नही—कठोर बुद्धिवाद और कोमल मानवीय तत्त्व। उनके बुद्धवाद के सामने तो आधुनिक वैज्ञानिक युग का बुद्धिवादी भी बडा भावुक जान पडेगा। आज का बुद्धिवादी अध्यात्म की उपेक्षा करके भी अपने अहम् की पूजा-अर्चा में आस्तिक भक्त बन जाता है।

बुद्ध तो बुद्धि के सम्बन्ध मे अहकार शून्य विशुद्ध तार्किक है। जो तर्क से प्रमाणित नही किया जा सकता वह उन्हे स्वीकार नही। अपनी विशुद्ध बौद्धिकता के बल पर ही वे युगो से बद्धमूल विश्वासो का विरोध करने खडे हुए और तर्क की सहज स्वाभाविकता के कारण ही हर दिशा मे उनकी यात्रा विजय-यात्रा ही सिद्ध हुई, पर उनकी असीम शुष्क बौद्धिकता मे मानवीय सौहार्द की अति व्याप्ति आश्चर्य का कारण बनती रहती है। प्राय उग्र बुद्धिवाद मानवीय तत्त्व को ऐसी उपेक्षित स्थिति में पहुँचा देता है कि मनुष्य जीवन का स्पर्श ही भूलने लगता है।

हमारे बुद्धिवाद की सूक्ष्मता मे खोये हुए वीतराग दार्शनिक या अविश्वासी पर सुख लिप्सु चारुवाक ही नही, आज के विक्षिप्त

तर्कवादी भी यही प्रमाणित करेंगे। इसके विपरीत मानवीय तत्व की प्रधानता एक प्रकार की भावुकता को विकास देने में समर्थ है, जो विश्वास ही नहीं अन्धविश्वास के लिए भी द्वार खोल सकती है। मानव-कल्याण-भावना पर केन्द्रित अनेक विचार धाराओं की अन्धविश्वासों में परिणति इसी सत्य का उदाहरण है।

बुद्ध विशुद्ध बौद्धिक और सहज मानव है, इसीसे विद्वानों की परिषदों में उनका जय-शंख बजता रहा और साधारण जीवों में उनकी करुणा की रागिनी गूंजती रही।

संसार के धर्म-संस्थापकों की पंक्ति में बुद्ध ही ऐसे अकेले है जिन्होंने मनुष्य के सम्बन्धों में सामंजस्य लाने के लिए परमात्मा की मध्यस्थता नहीं स्वीकार की, मनुष्यता उत्पन्न करने के लिए किसी पारलौकिक अस्तित्व का सहारा नहीं लिया। जिस निर्मम बौद्धिकता के साथ वे अपने वचनों को भी तर्क की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार करने के लिए कहते हैं, उसी के साथ वे जीवन के अन्तिम क्षणों में अपने संस्थापित धर्म के लिए कोई उत्तराधिकारी नहीं चुनते। उल्टे अपने योग्य और प्रिय शिष्य से कह देते हैं—'गुरु नहीं रहा यह न समझना आनन्द! मेरे द्वारा जो धर्म विनय उपदिष्ट हुआ है, प्रज्ञप्त हुआ है, मेरे न रहने पर वही तुम्हारा गुरु है।'

अपने अन्तिम आदेश से अधिक उन्हें दूसरों की भ्रान्ति निवारण की चिन्ता है—'भिक्षुओ! बुद्ध-धर्म-संघ में एक भिक्षु को भी शंका हो तो पूछ लो।' पर यह बौद्धिकता उनकी सहज

जा रही थी। सम्भवत बढते हुए आत्मवाद ने मनुष्य को इतना अन्तर्मुखी वना दिया कि बाह्य जीवन की समस्या का कोई समाधान खोजना अनिवार्य हो उठा। इस चिन्तन की विविधता के साथ-साथ जैन तीर्थंकरो का अहिंसा-धर्म भी विस्तार पा रहा था। वुद्ध ने आत्मवाद को और उलझाने वाला तत्त्व समझ कर और जैन-धर्म की नकारात्मक आस्तिकता और शरीर-सयम की प्रधानता मे बौद्धिकता का विकास न देख कर वह मार्ग ग्रहण किया जो उनके विचार में अधिक बौद्धिक और अधिक व्यावहारिक था।

ससार की नित्यता और अनित्यता आदि से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नो के उत्तर मे या वे मौन ही रहे या किसी सहज रूपक द्वारा समझाते हुए प्रश्नकर्ता को उसके प्रश्न की व्यर्थता तक पहुँचा आये। उनके निकट चार आर्य सत्य हैं। दु ख, दु ख समुदय (कारण), दु ख-निरोध और दु ख निरोधगामिनी प्रतिपदा। यह दु ख न किसी आध्यात्मिक जगत् का दु ख है और न सूक्ष्म दार्शनिक जगत् के असतोष का पर्याय है, प्रत्युत् प्रत्यक्ष जीवन का दु ख है।

'क्या है आवुसो दु ख ? जन्म भी दु ख है, जरा भी दु ख है, व्याधि भी दु ख है, मृत्यु भी दु ख है, शोकक्रन्दन भी दु ख है, मनस्ताप भी दु ख है, चिन्ता भी दु ख है, किसी चीज की इच्छा करके न पाना भी दु ख है। क्या है आवुसो दु ख निरोध ? जो उस तृष्णा का त्याग, विराग, निरोध, मुक्ति अनालय है वह कहा जाता है दु ख निरोध। क्या है आवुसो दु ख निरोधगामिनी प्रतिपदा ? यह अष्टागिक मार्ग है, सम्यग् दृष्टि, सम्यग् सकल्प,

सम्यग् वचन, सम्यग् कर्म, सम्यग् आजीव, सम्यग् व्यायाम सम्यग् समाधि।' (सम्मादिट्ठि सुत्तन्त)

उपर्युक्त दुःख के सभी रूप भौतिक जीवन से सबद्ध रखते हैं और उनसे दूर होने का उपाय आचरण का परिष्कार और चित्त की शुद्धि है।

बुद्ध होने का प्रयत्न करने वाला बोधिसत्व है और बोधिसत्व के लिए दो गुण आवश्यक होते हैं। महामैत्री और महाकरुणा। महामैत्री उसे अन्य प्राणियो के लाभ के लिए अपना सर्वस्व त्यागने की शक्ति देती है और महाकरुणा के कारण वह सब को दुःख से विमुक्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

बुद्ध का निर्वाण भी जीवन के उपरान्त कोई स्थिति न होकर जीवन की ही ऐसी स्थिति है जिसमे तृष्णा के क्षय से दुःख का क्षय हो गया है। पर यह दुःख का क्षय केवल अपने लिए नही है, इसी से बोधिचर्यावतार मे मिलता है—'सर्वस्व त्याग में निर्वाण है, मेरा चित्त उस स्थिति के लिए प्रस्तुत है, अत सब कुछ समर्पण कर देना उचित है। उसे सब को दे देना उचित है।'

मनुष्य के कल्याण-अकल्याण की भावना भी व्यावहारिक है।

'क्या है आवुसो अकुशल ? हिंसा अकुशल है, चोरी अकुशल है, दुराचार अकुशल है, असत्य बोलना अकुशल है, चुगली अकुशल है, कठोर वचन अकुशल है, बकवाद अकुशल है, लालच अकुशल है, प्रतिहिंसा अकुशल है, झूठी धारणा अकुशल है।' (मज्झिम निकाय)

इन कार्यों को न करने से मनुष्य को कुशल की प्राप्ति होती है। इस प्रकार बुद्ध का मनुष्य समष्टि का मनुष्य है और उसका निर्वाण सब की दुःख-मुक्ति मे अपनी दुःख-मुक्ति है। इसी से वे दीर्घ निकाय मे कहते हैं—'जैसे समुद्र का जल जहाँ उठाओ वही लवण-रस है वैसे ही मेरा धर्म-विनय सब जगह मुक्ति-रस है।'

बुद्ध की विचारधारा मे एक निराश दुःखवाद है—ऐसा आक्षेप भी सुना जाता है।

इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना उचित है कि प्रत्येक कल्याण-प्रतिपादक की स्थिति दोहरी होती है। वह अकल्याण की स्थिति को मानता है अन्यथा कल्याण की चर्चा ही व्यर्थ हो जायगी। इस तरह अकल्याण मूलक दुःख पर केन्द्रित रहने के कारण उसकी दृष्टि दुःखवादिनी रहे, यह स्वाभाविक है। पर यह स्थिति कल्याण मे बदल सकती है—इसमे उसका अटूट विश्वास रहता है, अन्यथा उसके प्रयत्न मे कोई सार्थकता ही नही रहेगी। इस तरह कल्याण पर आश्रित उसका दृष्टिकोण आशावादी ही रहेगा।

समय-समय पर कल्याण की परिभाषा बदलती रही है और उसी के विपरीत तत्त्व दुःख समझे जाते रहे। जब भौतिक समृद्धि ही कल्याण का पर्याय थी, तब उसे अप्राप्य बताने वाली बाधाएँ ही, दुःख थी। जब परमतत्त्व मे आत्मतत्त्व का लीन हो जाना कल्याण माना गया, तब भौतिक जगत् दुःख का कारण बन गया। बुद्ध का मार्ग निवृत्ति का मार्ग है। धन, काम आदि

की तृष्णा से ही मनुष्य स्वयं दुखी होता और दूसरों के दुख को बढ़ाता है, अतः ऐसी तृष्णा का क्षय ही कल्याण है। यह कल्याण चित्त और आचरण की शुद्धता से प्राप्त हो सकता है। उनकी कल्याण की भावना समन्वित है, अतः दुःख की व्यापकता के कोने-कोने का स्पर्श कर उनकी दृष्टि का विषाद भी विशालता पा गया है।

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित, इच्छा के एकान्त त्याग पर तत्कालीन धर्म, समाज, जीवन आदि की व्यवस्थाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ा—यह विश्वास करना कठिन है क्योंकि हमारे यहाँ एकान्त स्वार्थ को पराजित करने के लिए ही एकान्त त्याग का अत्यन्त प्रयोग में आता रहता है। उदाहरण के लिए हम गीता के निष्काम कर्म को ले सकते हैं।

जहाँ तक विचारधारा का प्रश्न है, वह तत्कालीन उपनिषदों में मिलने वाली विचारधारा से इतना साम्य रखती है कि उसे उसी चिन्तन-प्रणाली का एक रूप मानना उचित होगा। उप-निषदों में किसी विशेष मत या धर्म का प्रतिपादन नहीं किया गया है। वे तो विविध विचारकों के चिन्तन की समष्टि मात्र उपस्थित करते हैं। तत्कालीन आत्मवाद में भारतीय बुद्धिवाद अपनी चरमसीमा तक पहुँच चुका था। वह आत्मा जो अहङ्कार, मनन और विज्ञान की समष्टि है, आत्मवाद का शुद्ध आत्मन् नहीं और जिस आत्मा को बुद्ध अस्वीकार करते हैं, वह अहङ्कार, मनन और विज्ञान की समष्टि है। इस प्रकार एक ही धरातल पर स्वीकृति या अस्वीकृति का प्रश्न नहीं उठता। निर्वाण

प्राप्ति के उपरान्त की शून्यता और आत्मन् की शून्य व्यापकता विवाद का विपय रहेंगे।'

अनेक प्रश्नो के सम्वन्ध में व्यावहारिक धरातल पर बुद्ध मौन है और अनेक प्रश्नो के सम्बन्ध मे बौद्धिक धरातल पर उपनिषदो के मनीषी 'नही जानते, नही जानते' पुकार उठते है। इन प्रश्नो को छोड कर बुद्ध की विचारधारा मे बहुत कुछ वही है जो तत्कालीन विचारो मे भी मिलता है। अवश्य ही सब की परिभाषाएँ भिन्न-भिन्न है।

वुद्ध के प्रवचनो मे बारबार आने वाली अविद्या उपनिषदों मे भी वारबार उपस्थित हो जाती है। 'अन्धतम प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते' जैसे वाक्यो मे हम इस अज्ञान ही का सकेत पाते रहते है। वुद्ध जिस तृष्णा को दु ख का कारण मानते हैं वह भी काम के रूप मे उपनिपद् तथा वेद मे अपना परिचय देती रहती है—'स कामाय जायते, कामो जज्ञे प्रथम।'

जहाँ तक शरीर के आयास के विरोध मे चित्त शुद्धि का प्रश्न है, उसे याज्ञवल्क्य विदेह आदि की स्वीकृति मिल चुकी थी। नैतिक आचरण के सम्वन्ध मे ब्रह्मचर्य, शम, चित्त का सयमन, यम, इन्द्रियो का निग्रह आदि की भावना भी पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। अत वुद्ध ने उसे अपनी विचारधारा के अनुरूप बनाकर जो सगठित रूप दिया, वह नवीन होने पर भी भारतीय जीवन के लिए परिचित कहा जायगा।

संस्कृति का प्रश्न

दीर्घनिकाय में मनुष्य के क्रमशः उन्नति और अवनति की ओर जाने के सम्बन्ध में कहा हुआ यह वाक्य आज की स्थिति से विचित्र साम्य रखता है —

'उन लोगों में एक दूसरे के प्रति तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होगा। माता में पुत्र के प्रति, पुत्र में माता के प्रति, भाई में बहिन के प्रति, बहिन में भाई के प्रति, भाई में भाई के प्रति तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होगा जैसे मृग को देखकर व्याध में तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होता है। वे एक दूसरे को मृग समझने लगेंगे। उनके हाथों में पैने शस्त्र होंगे। वे उन तीक्ष्ण शस्त्रों से एक दूसरे को नष्ट करेंगे। तब उन सत्त्वों में कुछ सोचेंगे 'न मुझे औरों से काम न औरों को मुझ से काम, अत चलकर घने तृण-वन-वृक्षों में या नदी के दुर्गम तट पर या ऊँचे पर्वत पर वन में फल-फूल खाकर रहा जावे।' फिर वे घने तृण-वृक्षों में या नदी के दुर्गम तट पर या ऊँचे पर्वत पर वन में फल-मूल खाकर रहेंगे। एक सप्ताह ऐसा रहने के पश्चात् वे घने . . . से निकल कर एक दूसरे

का आलिंगन कर एक दूसरे के प्रति शुभ कामनाएँ प्रकट करेंगे। (चकवत्ति सिंहनाद सुत्त ३।३)

उपर्युक्त कथन के प्रथम अश की सत्यता तो हमारे जीवन मे साधारण हो गई है, परन्तु दूसरे अश की सत्यता का अनुभव करने के लिए सम्भवत हमे इससे कठिन अग्नि-परीक्षा पार करनी होगी।

आज जब शस्त्रो की झझनाहट में जीवन का सगीत विलीन हो चुका है, विद्वेष की काली छाया में विकास का पथ खोता जा रहा है, तब सस्कृति की चर्चा व्यग जैसी लगे तो आश्चर्य नही। परन्तु जीवन के साधारण नियम मे विश्वास रखने वाला यह जानता है कि सघन से सघन बादल भी आकाश बन जाने की क्षमता नही रखता, वज्रपात का कठोर से कठोर शब्द भी स्थायी हो जाने की शक्ति नही रखता। जब मनुष्य का आत्म-घाती आवेश शान्त हो जावेगा, तब जीवन के विकास के लिए सृजनशील तत्त्वो की खोज मे, सास्कृतिक चेतना और उसकी अभिव्यक्ति के विविध रूप महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगे।

सस्कृति की विविध परिभाषाएँ सम्भव हो सकी है, क्योकि वह विकास का एक रूप नही, विभिन्न रूपो की ऐसी समन्वया-त्मक समिष्ट है, जिसमे एक रूप स्वत पूर्ण होकर भी अपनी सार्थकता के लिए दूसरे का सापेक्ष है।

एक व्यक्ति को पूर्णतया जानने के लिए जैसे उसके रूप, रग, आकार, बोलचाल, विचार, आचरण आदि से परिचित हो जाना

आवश्यक हो जाता है, वैसे ही किसी जाति की संस्कृति को सूक्ष्म समझने के लिए उसके विकास की सभी दिशाओं का ज्ञान अनिवार्य है। किसी मनुष्य-समूह के साहित्य, कला, दर्शन आदि के संचित ज्ञान और भाव का ऐश्वर्य ही उसकी संस्कृति का परिचायक नहीं, उस समूह के प्रत्येक व्यक्ति का साधारण शिष्टाचार भी उसका परिचय देने में समर्थ है।

यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि संस्कृति जीवन के बाह्य और आन्तरिक संस्कार का क्रम ही तो है और इस दृष्टि से उसे जीवन को सब ओर से स्पर्श करना ही होगा। इसके अतिरिक्त वह निर्माण ही नहीं, निर्मित तत्त्वों की खोज भी है। भौतिक तत्त्व में मनुष्य प्राणितत्त्व को खोजता है, प्राणितत्त्व में मनस्तत्त्व को खोजता है और मनस्तत्त्व में तर्क तथा नीति की खोज निकालता है, जो उसके जीवन को समष्टि में सार्थकता और व्यापकता देते हैं। इस प्रकार विकास-पथ में मनुष्य का प्रत्येक पग अपने आगे सृजन को निखारता और पीछे अथक अन्वेषण छिपाये हुए है।

साधारणतः एक देश की संस्कृति अपनी बाह्य रूपरेखा में दूसरे देश की संस्कृति से भिन्न जान पड़ती है। यह भिन्नता उसके देश-काल की विशेषता, बाह्य जीवन, उसकी विशेष आवश्यकताएँ तथा उनकी पूर्ति के लिए प्राप्त विशेष साधन आदि पर निर्भर है, आन्तरिक प्रेरणाओं पर नहीं। बाहर की विभिन्नताओं को पार कर यदि हम मनुष्य की संस्कार-चेतना की परीक्षा करें तो दूर-दूर बसे मानव-समूहों में आश्चर्यजनक

साम्य मिलेगा। जीवन के विकास सम्बन्धी प्रश्नो के सुलझाने की विधि मे अन्तर है, परन्तु उन प्रश्नो को जन्म देने वाली अन्त चेतना मे अन्तर नही।

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब अनेक प्राचीन सस्कृतियाँ लुप्त हो चुकी है और अनेक नाश के निकट जा रही है तब सस्कृति को विकास का क्रम क्यो माना जावे ?

उत्तर सहज है—निरन्तर प्रवाह का नाम नदी है। जब शिलाओ से घेर कर उसका बहना रोक दिया गया, तब उसे हम चाहे पोखर कहें चाहे झील, किन्तु नदी के नाम पर उसका कोई अधिकार नही रहा।

सस्कृति के सम्बन्ध मे यह और भी अधिक सत्य है, क्योकि वह ऐसी नदी है जिसकी गति अनन्त है। वह विशेष देश, काल, जलवायु मे विकसित मानव-समूह की व्यक्त और अव्यक्त प्रवृत्तियो का परिष्कार करती है और उस परिष्कार से उत्पन्न विशेषताओ को सुरक्षित रखती है।

इस परिष्कार का क्रम अबाध और निरन्तर है, क्योकि मनुष्य की प्रवृत्तियाँ चिरतन है, पर मनुष्य अजर-अमर नही। एक पीढी जब अतीत के कुहरे में छिप जाती है, तब दूसरी उसका स्थान ग्रहण करने के लिए आलोक-पथ मे आती है । यह नवीन पीढी मानव-सामान्य अन्तश्चेतना की अधिकारी भी होती है और अपने पूर्ववर्त्तियो की विशेषताओ की उत्तराधिकारी भी, परन्तु इन सब का उपयोग उसे बदली हुई परिस्थितियो में करना पडता है। अनायास प्राप्त वैभव का ज्ञान यदि उसे गर्व

से विक्षिप्त बना देता है तो उसका गन्तव्य ही खो जाता है, और यदि एक निश्चिन्त शिथिलता उत्पन्न कर देता है तो उसकी यात्रा ही समाप्त हो जाती है। महान् और विकसित संस्कृतियाँ इसलिए नहीं नष्ट हो गईं कि उनमें स्वभावतः क्षय के कीटाणु छिपे हुए थे, वरन् अशरीरी होते-होते इसलिए विलीन हो गईं कि उनकी प्राण-प्रतिष्ठा के लिए जीवन कोई आधार ही नहीं दे सका। प्रकृति के अणु अणु के सम्बन्ध में मितव्ययी मनुष्य ने अन्य मनुष्यों के अतीत परिश्रम से अर्जित ज्ञान का कैसा अपव्यय किया है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

भारतीय संस्कृति का प्रश्न अन्य संस्कृतियों से कुछ भिन्न है, क्योंकि वह अतीत की वैभव-गाथा ही नहीं, वर्तमान की करुण गाथा भी है। उसकी विविधता प्रत्येक अध्ययनशील व्यक्ति को कुछ उलझन में डाल देती है। संस्कृति विकास के विविध रूपों की समन्वयात्मक समष्टि है और भारतीय संस्कृति विविध संस्कृतियों की समन्वयात्मक समष्टि है। इस प्रकार इसके मूल तत्त्व समझने के लिए हमें अत्यधिक उदार, निष्पक्ष और व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता रहती है।

परिवर्तनशील परिस्थितियों के बीच में जीवन को विकास की ओर ले जाने वाली किसी भी संस्कृति में आदि से अन्त तक एक विचारधारा का प्राधान्य स्वाभाविक नहीं। फिर भारतीय संस्कृति तो शताब्दियों को और सहस्राब्दियों तक व्याप्त तथा एक कोने में सीमित न रहकर बहुत विस्तृत भू-भाग तक फैली हुई है। उसमें एक सीमा से दूसरी तक, आदि से अन्त तक एक ही

धारा की प्रधानता या जीवन का एक ही रूप मिलता रहे, ऐसी आशा करना जीवन को जड मान लेना है। भारतीय सस्कृति निश्चित पथ से काट-छाँट कर निकाली हुई नहर नही, वह तो अनेक स्रोतो को साथ ले अपना तट वनाती और पथ निश्चित करती हुई वहने वाली स्रोतस्विनी है। उसे अधकार भरे गर्मो में उतरना पडा है, ढालो पर विछलना पडा है, पर्वत जैसी वाधाओ की परिक्रमा कर मार्ग वनाना पडा है, पर इस लम्बे क्रम में उसने अपनी समन्वयात्मक शक्ति के कारण अपनी मूल धारा नही सूखने दी। उसका पथ विपम और टेढा-मेढा रहा है, इसी से एक घुमाव पर खडे हो कर हम शेप प्रवाह को अपनी दृष्टि से ओझल कर सकते है, परन्तु हमारे अनदेखा कर देने से ही वह अविच्छिन्न प्रवाह खड-खड मे नही वट जाता।

जीवन की मूल चेतना से उत्पन्न ज्ञान और कर्म की दो प्रमुख धाराएँ भिन्न-भिन्न दिशाओ मे विकास पाते रहने पर भी ऐसी समीप है कि एक के साध्य वन जाने पर दूसरी साधन वन कर उसके निकट ही रहती है। कभी इनमें से एक की प्रधानता और कभी दूसरी की और कभी दोनो का समन्वय हमारे जीवन को विविधता देता रहता है। अनेक सिद्धान्त, हमारे जीवन के समान ही पुराने है। उदाहरण के लिए हम वर्तमान युग की अहिसा को ले सकते है, जिससे पिछले अनेक वर्षो से हमारे राष्ट्रीय जागरण को विशेप नैतिक वल मिलता आ रहा है। एक वडे सघर्ष और निराशा के युग के उपरात वैष्णव धर्म ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उसके

पहले महाभारत काल का अनुसरण करने वाले युग में बुद्ध ने भी। इस सिद्धान्त का मूल हमें उपनिषद् ही नहीं वेद के 'मा हिंस्यात् सर्व भूतानि' में भी मिलता है। यज्ञ के लिए हिंसा के अनुमोदकों के साथ-साथ हमें अहिंसा के समर्थकों का स्वर भी सुनाई पड़ता है। ब्राह्मण काल में इन दोनों विचारधाराओं की रेखाएं कुछ कुछ स्पष्ट होने लगती हैं और यज्ञ धर्म से आत्म-विद्या को उच्च स्थान देने वाले उपनिषद् काल में वे निश्चित रूप पा लेती हैं। अन्य विचारधाराओं के सम्बन्ध में भी ऐतिहासिक अनुसंधान कुछ कम ज्ञानवर्धक न होगा।

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म के साथ भारतीय संस्कृति में एक ऐसा पट-परिवर्तन होता है, जिसने हमारे जीवन की सब दिशाओं पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा और दूसरे देशों की संस्कृति को भी विकास की नयी दिशा दी। इससे और वैदिक संस्कृति में विशेष अन्तर है। वैदिक संस्कृति हमारी संस्कृति का उपक्रम न होकर किसी विशाल संस्कृति का अन्तिम चरण है और बौद्ध संस्कृति विषम परिस्थितियों के भार से दबे जीवन का सम्पूर्ण प्राण-प्रवेग है, जिसने सभी बाधाएं तोड़कर बाहर आने का मार्ग पा लिया। एक में शक्ति का गर्व है, सृजन का ओज है, पर अपनी भूलों के ज्ञान से उत्पन्न नम्रता नहीं है, दूसरों की दुर्बलता के प्रति समवेदना नहीं है। दूसरी में मनुष्य की दुर्बलता के परिचय से उत्पन्न सहानुभूति है, जीवन के दुःखबोध जनित करुणा है, परन्तु शक्ति का प्रदर्शन नहीं है, निर्माण का अहंकार नहीं है।

जो नरक भारतीय जीवन का सत्य बन चुका है, ऋग्वेद का ऋपि उसका नाम पता नही जानता। जिस नारी की कल्पना मात्र से भारतीय साधक कम्पित होते रहे है, ऋग्वेद के पुरुष को उससे कोई भय नही है। जिस दु खवाद ने भारतीय जीवन को इतना घेर रखा है, ऋग्वेद का मनीषी उसके सम्बन्ध में कुछ कहता सुनता नही। इसके विपरीत बौद्ध सस्कृति का मनुष्य, रामायण काल की सतर्क परिणति और महाभारत के सघर्ष का उपसहार पार कर आया है, दु ख, असफलता, पराजय आदि से विशेष परिचित हो चुका है और जीवन के अनेक कटु अनुभवो से बुद्धिमान बन चुका है।

इसीसे वैदिक सस्कृति अपनी यथार्थता मे भी आदर्श के निकट है और बौद्ध सस्कृति अपनी बौद्धिकता में भी अधिक यथार्थोन्मुखी है। एक प्रवृत्ति प्रधान और दूसरी अपरिग्रही है, परन्तु दोनो विकास की ओर गतिशील है। आज की परिस्थितियो मे अपने जीवन को स्वस्थ गति देने के लिए सास्कृतिक विकास के मूल तत्त्वो को समझना ही पर्याप्त न होगा। उनकी समन्वयात्मक शक्ति को ग्रहण करना भी आवश्यक है।

सस्कृति के सम्बन्ध मे हमारी ऐसी धारणा बन गई है कि वह निरन्तर निर्माण-क्रम नही, पूर्ण निर्मित वस्तु है, इसीसे हम उसे अपने जीवन के लिए कठोर साथी बना लेते है। इस भ्रान्ति ने हमे जीवन के मूल तत्त्वो को नवीन परिस्थितियो के साथ किसी सामजस्य पूर्ण सम्बन्ध मे रखने की प्रेरणा ही नही दी। हम तो अतीत के ऐसे कृपण उत्तराधिकारी है, जो उनमें से कुछ भी

अपने ऊपर व्यय नहीं कर सकता और सतर्क पहरेदार बना रहने में ही कर्त्तव्य की पूर्ति मानता है।

जीवन जैसे आदि से अन्त तक निरन्तर सृजन है, वैसे ही संस्कृति भी निरन्तर संस्कार क्रम है। विचार, ज्ञान, अनुभव, कर्म आदि सभी क्षेत्रों में जब तक हमारा सृजन-क्रम चलता रहता है, तब तक हम जीवित हैं। 'जीवन पूर्ण हो गया' का अर्थ उसका समाप्त हो जाना है। संस्कृति के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य है। परन्तु विकास की किसी स्थिति में भी जैसे शरीर और अन्तर्जगत् के मूल तत्त्व नहीं बदलते, उसी प्रकार संस्कृति के मूल तत्त्वों का बदलना भी सम्भव नहीं।

आज की सर्वग्रासी परिस्थिति में यदि हम अपने जीवन का क्रम अटूट रखना चाहें, तो अपनी सांस्कृतिक चेतना को सजग रखना और उसकी समन्वयात्मक प्रवृत्ति को सुरक्षित रखना उचित होगा। सैकड़ों फीट नीचे भूगर्भ में, गहरी गुफाओं में या ऊँची-ऊँची शिलाओं में मिले हुए अतीत वैभव तक ही हमारी संस्कृति सीमित नहीं, वह प्रत्येक भारतीय के हृदय में भी स्थापित है। हमारी खोज किसी मृत जाति के जीवन-चिन्हों की खोज नहीं, जीवित उत्तराधिकारी के लिए उसके पैतृक धन की खोज है और वह उत्तराधिकारी प्रत्येक झोपड़े के कोने में उसे पाने को उत्कंठित बैठा है।

कसौटी पर

किसी भी विकासोन्मुखी जाति के सिद्धान्त और जीवन-आदर्श और आचरण तथा स्वप्न और निर्माण मे मात्राओ का चाहे जितना न्यूनाधिक्य रहे, परन्तु एक दूसरे को निष्क्रिय कर देने वाले विरोधी तत्त्वो की उपस्थिति सम्भव नही। कारण स्पष्ट है। सृजनात्मक गतिशीलता मे यह द्वन्द्व, विम्व-प्रतिविम्ब रहकर ही पूर्ण हो सकते है, परस्पर पूरक होकर ही जीवन का विकास कर सकते है। जैसे-जैसे जीवन का परिष्कार होता चलता है, वैसे-वैसे इनकी सापेक्ष स्थिति उत्तरोत्तर परिष्कृत और दृढ होती जाती है।

इस सामान्य नियम का व्यतिक्रम वही मिलेगा, जहाँ किसी जाति का विकास-क्रम रुक गया है, क्योकि उस स्थिति मे उसके अन्तर्जगत् और वाह्य जीवन के बीच एक ऐसी खाई आ पडती है, जो समय के साथ-साथ चौडी होती हुई एक को दूसरे से दूर करती रहती है और अन्त मे मनुष्य अपने मानसिक ऐश्वर्य को शून्य आकाश मे तथा वाह्य जीवन के दारिद्रय को अँधेरे पाताल मे वन्दी रखने के लिए वाध्य हो जाता है।

एक असभ्य जाति अपने अन्तर्जगत् और व्यवहार जगत् मे समान रूप मे असस्कृत होगी, परन्तु जिस अनुपात से उसका

मानसिक विकास होता रहेगा, उसी अनुपात में उसका बाह्य जीवन भी परिष्कृत होता चलेगा। इसके विपरीत ह्रासोन्मुख सभ्यता में मनुष्य का बाह्य जीवन उसके अन्तर्जगत् से दूर जा पड़ता है। उसके सिद्धान्त, संस्कारमात्र बनकर रह जाते हैं, आदर्श अलंकारों के समान बोझिल निष्क्रियता प्राप्त कर लेते हैं। कल्पना और विचार रूढ़ियों में बँध जाते हैं और उसका सम्पूर्ण बाह्य जीवन या तो लीक पीटने में सीमित हो जाता है, या सस्ते अवसरवाद में बिखर जाता है। ऐसी स्थिति में किसी प्रकार की भी चेतना पानी के ऊपर तैरती हुई तेल की बूँदों के समान जीवन से भिन्न दिखाई देती रह सकती है, परन्तु उसमें घुलकर प्रेरणा बनने की शक्ति नहीं रखती।

हमारा आज का जीवन भी इस नियम का अपवाद नहीं। एक ही परिधि में हमारे सिद्धान्त और धर्म स्वर्ग बसाते रहते हैं और हमारा जीवन नये-नये नरकों की सृष्टि करता रहता है। एक ही क्षितिज-रेखा पर हमारे आदर्श और स्वप्न, किरणों के रंग भरते रहते हैं और हमारा यथार्थ अन्धकार के बादल घनीभूत करता रहता है। एक ही मन्दिर में हमारी भावना और कल्पना अतिमानव में देवत्व की प्राणप्रतिष्ठा करने में तत्पर रहती है और हमारा आचरण मनुष्यता की मूर्ति गढ़ने में लगा रहता है।

इस प्रकार हमारी शक्तियाँ न अन्तर्जगत् को इतना सूक्ष्म रूप दे सकीं कि हमारे आदर्श जी उठते और न हमारे बाह्य जीवन में इतनी चेतना भर सकीं कि वह अपने नरक से ऊपर

उठता। हम एक ही जीवन मे अनेक परस्पर विरोधी जीवनो का वोझ लादे, अपने ही वनाये को मिटाते और उजाडे को बसाते न जाने कव से दिग्भ्रान्त के समान कही न पहुँचने के लिए चल रहे हैं।

शताब्दियो की दासता ने हमारी नैतिकता नष्ट कर दी, यह भी सत्य है और हमारी सक्रिय नैतिकता का अन्त हो जाने पर ही, दूसरो की सृजनात्मक शक्ति के सामने हमे नतमस्तक होना पडा, यह भी मिथ्या नही कहा जा सकता। वास्तव मे यह प्रश्न पृथ्वी के समान छोरहीन वृत्त है। चाहे जहाँ से चला जावे, सारी सीमा पार कर फिर वही पहुँचना निश्चित है।

जव तक हम स्वप्नो को सत्य करने के लिए गतिशील रहे, आदर्शों को मूर्त्त रूप देने के लिए कर्मठ रहे और सिद्धान्तो का खरापन कसने के लिए उतावले रहे, तब तक व्यावहारिक जीवन का वडे से वडा मू य देने को प्रस्तुत रहे, क्योकि हमारे अन्तर्जगत् की साकारता वही सम्भव है। जव हमारे लिए स्वप्न, आदर्श और सिद्धान्तो को, एक सुखमय भार के समान ढोना भर शेप रह गया, तव वाह्य जीवन के लिए तुच्छ से तुच्छ मूल्य देना भी हमारे निकट जीवन का असह्य अपव्यय हो उठा।

हमारे ज्ञान-युग के ऐश्वर्य के चरणो से, व्यक्त जीवन का जो दैन्य वँधा है, वह किसी सर्वांग सुन्दरी माता की कुरूप और विकलाग सन्तान के समान भिन्न और विस्मय की वस्तु होकर भी उसी के अस्तित्व से निर्मित है। जव हमने भौतिक जगत् को माया और भ्रान्ति की सज्ञा देकर अपने अन्तर्जगत्

ने निर्वासित कर दिया, तब उसने हमारे मानसिक वैभव को प्रेत का अशरीरी अस्तित्व देकर मानो अपने प्रतिशोध का ऋण पाई पाई चुकता कर लिया।

जब किसी जाति की मानसिक स्थिति ऐसी हो जाती है, तब उसे उनके लिए मार्ग छोड़ देना पड़ता है, जो जीवन का अधिक से अधिक मूल्य दे सकते हैं। व्यावहारिक जगत् में हमारा दान जिस परिमाण तक गुरु होता है, आदान उसी परिमाण तक मूल्यवान बन जाता है। दूसरे शब्दों में जो देने की चरम सीमा छू लेता है, वही आदान की असीमता का मापदण्ड निश्चित करता है।

जब हम अपने सिद्धान्त, आदर्श और स्वप्नों के अभिषेक के लिए हृदय का अन्तिम रक्त-बिन्दु तक दे सकते थे और भौतिक जीवन के धूल भरे पैरों को दिव्यता के शिखर तक पहुँचाने के लिए अपने मनोजगत् की अमूल्य निधियों को सीढ़ियों में चुन सकते थे, तब अन्य संस्कृतियाँ पर्वत से टकराई लहरों के समान या तो हमसे टकरा टकरा कर लौट गईं, या हमारे चरणों के मूल में टिकी रहीं। पर, जिस दिन उसी दधीचि की धरती पर बैठकर, जिसने दानवी शक्तियों के चुनौती देने पर अपने तपोधन को सुरक्षित रखने वाले शरीर की अस्थियाँ तक दे डालीं, हम अपने बलि-कोष के हीरे मोतियों को गिनने लगे और बाहर फैलते हुए स्पन्दन को भ्रान्ति मानकर जीवन की रक्षा पुकार को अनसुनी करने लगे, उसी दिन अनाहूत काल ने हमारे विकास के इतिहास को उलटी ओर से लिखना आरम्भ किया। और आज

तो हम वहाँ आ पहुँचे है, जहाँ से कभी चले थे। अन्तर केवल इतना ही है कि तब हमारे पास आत्मविश्वास का सम्बल था और आज कधो पर असख्य भूलो का भार है।

जिस युग मे हम एक दूसरे से स्वतन्त्र समूहो मे सीमित थे, उस युग मे जीवन की कसौटी सहज थी और जीवन का मूल्य अल्प था। ज्यो-ज्यो हमारे सम्पर्क का विस्तार बढता गया, जीवन का मूल्य चढता गया और उसकी कसौटी भी कठिन होती गई। आज जब हम पृथ्वी के एक छोर पर रहकर भी दूसरे छोर मे इस प्रकार बँधे हैं कि एक ओर से उठा स्वर दूसरी ओर का राग भी बन सकता है और चीत्कार भी, तब न जीवन का मूल्याकन सहज है और न कसौटी का एक रूप रह गया है। ऐसी दशा मे यदि हम अपनी भूले न सुधार लेगे, तो जीवन ही सम्भव न हो सकेगा। यदि हम शुतुर्मुर्ग के समान मिट्टी मे सिर छिपाकर पडे भी रहे, तो उससे इतना ही लाभ हो सकता है कि बाणो के आने की दिशा न जाने, पर उनके स्थायी लक्ष्य बनते रहे।

हमारी वर्त्तमान विकृति मे अन्धकार जैसी व्यापकता और मृत्यु जैसी एक रसता तो है ही, साथ ही उसकी व्यावहारिक विभिन्नता मे विचित्र एकरूपता भी मिलेगी। जो ग्वाला अठगुना दाम लेकर भी दूध मे पानी मिलाये विना नही मानता और अपनी सत्यता प्रमाणित करने के लिए प्रचलित तालिका मे से एक भी शपथ नही छोडता, उसका मिथ्या, मन्दिर मे देवता के चरणो के पास बैठकर धर्म का व्यापार करने वाले पुजारी के

मिथ्यावाद का सहोदर है। दूसरे के अर्थ पर सम्पाती जैसी तीक्ष्ण दृष्टि रखने वाले पूँजीपति की क्रूरता, उदार साम्योपासक की उस हृदयहीनता की सहचरी है, जो उसे थके घोड़े और टूटे शरीर वाले इक्केवान और आधी रात के समय बरसते पानी में सामान उतारने वाले कुली की मजदूरी में से दो पैसे काट लेने पर बाध्य कर देती है। दुर्बल भिखारी की उपेक्षा कर चींटियों को चीनी आटे पर पालने वाले तिलकधारी जपी से सहानुभूति का जो अभाव है, वही, त्यागी सुधारवादी को दूसरों की भूख पर अपने स्वार्थ का प्रासाद खड़ा करने की दुर्बलता देता रहता है।

जो विकृत वासना, विलास के कीटों को, जीवन का घुन बना देती है, वही शिक्षित और सभ्रान्त वर्ग की दृष्टि में एक अनिवार्य प्यास बन कर झाँकती रहती है। अनेकों आँखों के सामने जुए से खेल करने वाली वणिक् की उँगलियों में जो बाजीगरी है, उससे वे हाथ भी अपरिचित नहीं, जो महँगे सस्ते कागज पर आश्रित होकर बहुमूल्य और मूल्यहीन लेखनियों को आश्रय देते हैं। यह कथन कटु हो सकता है, परन्तु असत्य नहीं। चाहे हम समाज, राजनीति, धर्म, साहित्य आदि किसी भी क्षेत्र का सत्यतः अध्ययन करें और चाहे अपने अनन्य अध्यात्मवादी से लेकर घोर भौतिकवादी नेताओं के अनुभवों को एकत्र कर जावें, इस सत्य को मिथ्या प्रमाणित करना कठिन ही नहीं असम्भव होगा।

हमारी इस [illegible] का कारण है। विकृति विषैली गैस के समान वातावरण में व्याप्त होकर प्रत्येक साँस में समाती

रही और इतनी शताब्दियो के उपरान्त आज तो वह हमारे जीवन का ऐसा जीर्ण ज्वर बन चुकी है, जिसकी उपस्थिति का बोध हमे अपने अगो की शिथिलता में ही होता है। जब गन्तव्य पथ पर हमारे पैर कही के कही पडते हैं, जब प्राप्य की ओर हमारे हाथ नही बढते और जब लक्ष्य पर हमारी दृष्टि नही ठहरती, तब हम इसे अपनी व्याधि-जनित असमर्थता न मान कर कहते है मार्ग दुर्गम है, प्राप्य दुर्लभ है और क्षितिज भ्रान्त है।

सब जगह हमारा दम्भ गहरा है और विवेक उथला है। सर्वत्र हमारी हृदयहीनता स्वभावगत हो गई है और स्वार्थ-परता चरित्र मे रम रही है। सब स्थितियो मे मिथ्या हमारे प्राणो मे बस गया है और कपट मज्जागत बन रहा है। सर्वदा हमारे सिद्धान्त धरोहर बनकर ही ठहर सकते हैं और परिवर्तन बहुरूपियापन मे ही अस्तित्व पाता है। हमारा नैतिक पतन आज उस अजगर के समान हो उठा है, जो सौन्दर्य और सत्य की सजीव प्रतिमाओ को भी साँस के साथ खीच कर उदरस्थ कर लेता है और फिर अपने शरीर को तोड-मोड कर उन्हे चूर-चूर बना ऐसी स्थिति मे पहुँचा देता है, जिसमे वे उस अजगर के शरीर के अतिरिक्त और कुछ नही रहती।

विकास की पहली आवश्यकता है कि हमारे बौद्धिक ऐश्वर्य, हृदय की प्रेरणा और क्रिया मे ऐसा सामजस्यपूर्ण तारतम्य हो, जो हमारे जीवन के राग को विरोधी स्वरो से बेसुरा न कर सके। वह सक्रियता जो दूसरो के अमूल्य अलकारो को धरोहर

बना कर व्यवसाय करने वाले महाजन से मिलती है, उसे किसी दिशा में भी निर्माण न करने देगी, यह कटु सत्य अनेक बार परीक्षित हो चुका है। हमारे जीवन को पारस होने का वरदान तो अब तक प्राप्त नहीं हो सका, जिससे उसके स्पर्श मात्र से सब कुछ सोना हो जाता, पर भस्मासुर का अभिशाप हर समय उसके साथ है, जिससे वह जब चाहे स्वयं सोने से राख का ढेर बन सकता है।

कोई भी सत्य सिद्धान्त, भव्य स्वप्न और पूर्ण आदर्श जीवन से शून्य होकर न कुछ मूल्य रखता है, न किसी रूप में ढलता है और न किसी प्रकार का स्पन्दन पाता है। वह तो उसी अंश तक सारवान है, जिस अंश तक जीवन की कसौटी पर परखा जा चुका है।

स्वयं ईसा के अनुयायी ही उनके सिद्धान्त की अवहेलना कर रहे हैं। परन्तु ऐसी स्थिति में भी कोई उस सिद्धान्त को खोटा सिक्का मानने को क्यों प्रस्तुत नहीं है? केवल इसलिए कि वह ईसा के जीवन पर कसा जाकर खरा उतरा है। स्वयं बुद्ध के उपासक ही उनके आदर्शों के विरुद्ध आचरण कर रहे हैं। फिर भी संसार उस आदर्श को भ्रान्ति की संज्ञा क्यों नहीं देना चाहता? केवल इसलिए कि वह आदर्श बुद्ध के जीवन में प्रतिबिम्बित होकर अनेक युगों की कठिन से कठिन अग्नि-परीक्षा पार कर आया है। आज के [illegible] जग में भी अहिंसा को [illegible] नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह एक साधक की [illegible] [illegible] से बद्ध नहीं है।

जब हम किसी सत्य को भीतर आने वाली साँस में स्वीकार करते है और बाहर जाने वाली निश्वास में अस्वीकार कर देते है, तब न उसकी कोई कसौटी सम्भव है और न उसका कोई मूल्य निश्चित हो सकता है। ऐसी दशा मे वह केवल हमारा बोझ बढाता रहता है।

अपनी दुर्बलता की बैसाखी बनाने के लिए हमने जो दो आधार ढूंढ लिये है वे हमारी असमर्थता के दयनीय विज्ञापन मात्र है। एक ओर हम बहुत अलकृत भाषा और ओज भरे स्वर में ससार को सुनाते रहते है कि व्यावहारिक जीवन में काम न आने पर भी हमारे भव्य आदर्श, सुन्दर सिद्धान्त और सुनहले स्वप्न जीवन की समृद्धि बढाते है और दूसरी ओर दबे कण्ठ और अस्फुट शब्दो में स्वीकार करते रहते है कि परिस्थि-तियो की विषमता ने ही हमे दो भिन्न प्रकार के जीवन वहन करने पर बाध्य कर दिया है ।

हमारा बौद्धिक ऐश्वर्य्य और मानसिक वैभव जीवन का अक्षय वरदान है , परन्तु जब हम इसे व्यक्त जगत् की विषम-ताओ के समर्थन के लिए खडा करने लगते है, तब यह हमारी असत्य त्रुटियो और दुर्बलताओ का सफल वकील बनकर ही रह जाता है। फिर उसका समर्थन पाकर हमारे बाह्य जीवन की विषमताएँ अमरबेल के समान फैलने लगती है और व्यक्त जगत् की सीमाओ से मुक्त होकर हमारे स्वप्न, आदर्श और सिद्धान्त अशरीरी बनते रहते है।

वह सत्य जो हमारे असत्य के समर्थन मे काम आता है,

मिथ्या से सहस्रगुण अधिक कुत्सित है। उस डाकू की अनैतिकता से, जो केवल पशुता का सम्बल लिये हुए है, उस सूदखोर महाजन की नैतिकता अधिक भयानक है, जो धर्म के ऊँचे न्यायासन पर बैठकर लुटेरेपन का समर्थन करने का साहस रखती है। नग्न पशुता को मनुष्य के चरम विकास तक पहुँचा देना सहज है, परन्तु उस दिव्यता को जो पशु के लिए आवरण बन चुकी है, बदलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होगा।

इस व्यापक नियम को जाने बिना, हम अपने जीवन को ऐसे दो भिन्न पक्षों में विभाजित कर बैठते हैं, जिनकी सन्धि यदा-कदा अवसरवाद में ही सम्भव हो सकती है। जब तक हम उन पक्षों को एक नहीं कर लेते, तब तक हमारी गति कुण्ठित रहेगी और जब तक हम अपने बाह्य जीवन को अन्तर्जगत् का सहभाष्य नहीं बना सकते, तब तक उसकी एकता की कामना दुराशामात्र है।

परिस्थितियों का प्रश्न, उनकी विषमता से अधिक हमारी दुर्बलता से सम्बन्ध रखता है। युग विशेष में जीवन के पास जितना खरा सोना है उसकी एकमात्र परीक्षक उस युग की परिस्थितियाँ ही रहेंगी। जो अपने युग का हलाहल पीकर उसे अमृत नहीं बना सकती, उस जाति की मृत्यु तो निश्चित ही है। फिर परिस्थितियों का परिवर्तनमात्र, जीवन में आमूल परिवर्तन करने में समर्थ नहीं होता, क्योंकि उसके लिए परिस्थितियों की अनुकूलता के साथ ही जीवन का विकासोन्मुख आवेग भी अपेक्षित रहता है। नवजन्म लेने मात्र से ही कोई समाज स्वर्गी

साधक नही वन जाता, क्योकि उस स्वभाव की प्राप्ति के लिए वाह्य ही नही, मानसिक परिवर्तन भी आवश्यक है। कठोर विधानो से घिरे रहने के कारण चोरी करने में असमर्थ व्यक्ति धर्मप्राण सयमी नही हो जाता, क्योकि वह गुण बाह्य बधनो से अधिक हृदय के परिष्कार पर निर्भर रहेगा।

व्यष्टि से लेकर समष्टि तक ऐसे उदाहरणो की कमी नही, जव जीवन के प्रवाह ने कण-कण जोडकर परिस्थितियो के शिलाखण्ड वनाये और फिर तिल-तिल कर उन्हे बहा दिया।

सभ्यता मे हमसे भी वृद्ध चीन की परिस्थितियाँ पहले नही वदली, पर जब उसके जीवन की गति प्रखरतम हो उठी, तब युग-युगान्तर से पुञ्जीभूत रूढियो और अन्ध-विश्वासो के बादल फटने लगे और कठोर परिस्थितियो का रोकनेवाला क्षितिज भी मार्ग वनाने लगा। दूसरी ओर जीवन-शक्ति के नितान्त अभाव के कारण ही फरासीसी जाति अनुकूल परिस्थितियो में भी विकास-पथ पर न वढ सकी और अन्त मे जीवन के सामान्य नियम के अनुसार उसे अतीत युग का सञ्चित गौरव भी हार जाना पडा, जो नव-निर्माण की सुदृढ नीव वन सकता था।

पर्वत हट-हट कर नदी के लिए राह नही वनाते और पृथ्वी विपम भागो को भर-भर कर जल को समतल नही देती। उसका प्रवाह ही पर्वतो को चीरता, विषम भूभागो मे अपनी समता की रक्षा करता और कूलो का अटूट क्रम रचता हुआ अपना पथ और अपनी दिशा वना लेता है। तट पर गूंजते हुए स्तुति के म्वरो से ममुद्र पर मेतु नही वन सकता, किंतु उसकी रचना

उस शक्ति से सम्भव हो सकी, जिसके इंगित की उपेक्षा न जल की अतल गहराई कर सकती थी और न चट्टानों की गुरुता।

बाह्य जीवन की विषम परिस्थितियों को अपनी बेड़ियाँ बनाकर हम विकास-पथ पर चल ही नहीं सकते, क्योंकि उस दशा में वे हमारी गति को रुद्ध कर सकती हैं। निर्माण-युग में उनका इतना ही उपयोग है कि वे जीवन के कोमल और उजले स्वर्ण को परखने के लिए काली और कठोर कसौटी बन सकें। यदि हमारे रंगबिरंगे स्वप्न, सुनहले-रुपहले आदर्श और रूप-अरूप सिद्धान्त इस कसौटी पर नहीं ठहर सकते, तब उनमें खरेपन का अभाव निश्चित है।

पिछले युगों में मनुष्य का मूल्य उसके सिद्धान्त की व्यापकता से आँका जाता था, परन्तु आज के व्यक्ति-प्रधान युग में सिद्धान्त की गुरुता मनुष्य के जीवन की गहराई में ही नापी जा सकती है। आज तो प्रत्येक व्यक्ति एक सत्य है। उसकी प्रत्येक मौन जीवित स्वप्न है, उसका प्रत्येक शब्द बोलता आदर्श है और उसका प्रत्येक कार्य साकार सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में स्वच्छ आकाश जैसे व्यापक सत्य को चाहे कोई न देखे, पर असत्य के रंगीन बादल सब की दृष्टि को आकर्षित कर सकते हैं। इस युग में जीवन के साथ हमारा सिद्धान्तवाद जितनी व्यापकता के साथ समन्वित हो सकता है, उसकी यदि एक बार हम कल्पना कर सकें, तो हमारे निर्माण के अनेक प्रश्न सुलझ जावें।

स्वर्ग का एक कोना

उस सरल कुटिल मार्ग के दोनो ओर अपने कर्त्तव्य की गुरुता से निस्तब्ध प्रहरी जैसे खडे हुए और आकाश मे भी धरातल के समान मार्ग बना देने वाले सफेदे के वृक्षो की पंक्ति से उत्पन्न दिग्भ्रान्ति जब कुछ कम हुई, तब हम एक दूसरे ही लोक में पहुँच चुके थे, जो उस व्यक्ति के समान परिचित और अपरिचित दोनो ही लग रहा था, जिसे कही देखना तो स्मरण आ जाता है, परन्तु नाम-धाम नही याद आता।

उस सजीव सौन्दर्य मे एक अद्भुत निस्पन्दता थी, जो उसे नित्य दर्शन से साधारण लगने वाले सौन्दर्य से भिन्न किये दे रही थी।

चारो ओर से नीले आकाश को खीच कर पृथ्वी से मिलाता हुआ क्षितिज, रुपहले पर्वतो से घिरा रहने के कारण बादलो के घेरे जैसा जान पडता था। वे पर्वत अविरल और निरन्तर होने पर भी इतनी दूर थे कि धूप में जगमगाती असख्य चादी सी रेखाओ के समूह के अतिरिक्त उनमें और कोई पर्वत का लक्षण दिखाई न देता था। जान पडता था कि किसी चित्रकार ने अपने आलस्य के क्षणो मे रुपहले रग मे तूलिका डुबाकर नीले धरातल पर इधर-उधर फेर दी है।

जहाँ तक दृष्टि जाती थी पृथ्वी अश्रुमुखी ही दिखाई पड़ती थी। जल की इतनी अधिकता हमारे यहाँ वर्षा के अतिरिक्त कभी देखने में नहीं आती; परन्तु उस समय के धरातल और यहाँ के धरातल में उतना ही अन्तर है, जितना धुले हुए सजल मुख और आँसू भरी आँखों में। मार्ग इतना सूखा था कि धूल उड़ रही थी, परन्तु उसके दोनों किनारे सजल थे, जिनमें कहीं-कहीं कमल की आकृति वाले छोटे फूल कुछ मीलित और कुछ अर्ध-मीलित दशा में झूम रहे थे।

रावलपिन्डी से २०० मील मोटर में चलने से शरीर अवसन्न हो ही रहा था, उस पर नाचती और बिखरी हुई अभिनव सुषमा और संगीत के आरोह-अवरोह की तरह चढ़ाव-उतार वाले समीर की मर्मर ने मन को भी ऐसा विमूर्च्छित-सा कर दिया कि श्रीनगर में बद्रिकाश्रम पहुँच कर बड़ी कठिनता से स्वप्न और सत्य में अन्तर जान पड़ा। वह आश्रम जहाँ हाउस बोट में जाने तक हमारे ठहरने का प्रबन्ध था, सहज ही किसी जन्तुशाला का स्मरण करा देता था। कारण, वहाँ अनेक प्रान्तों के प्रतिनिधि अपनी-अपनी विशेषताओं के प्रदर्शन में दत्तचित्त थे। कहीं कोई पंजाबी युवती अपने यौवन के गर्व से मस्तक उन्नत किये देखने वालों को चुनौती सी देती घूम रही थी। कहीं संयुक्त प्रान्त की कोई पर्दानशीन घूँघट निकाले इस प्रकार संकोच और भय से सिमटी जाती थी मानो सब उसी के लज्जा रूपी कोष पर आक्रमण करने को तुले हुए हैं और वह उसे छिपाने के लिए पृथ्वी से स्थान माँग रही है। कहीं कोई महाराष्ट्र सज्जन सिर का पूरा भाग सिर

पर धारण किये लकडियो को धोते हुए दूसरो के कौतूहल का कारण वन रहे थे। कही कोई धर्म-दिग्गज धर्मपालन और उदर-पूर्ति मे कौन श्रेष्ठ है, इस समस्या के समाधान मे तत्पर थे। प्रकृति की चचलता की कमी की पूर्ति मनुष्य मे हो रही थी।

अधिकारियो ने हमारे कमरे, नौकर आदि की जैसी सुव्यवस्था थोडे समय मे कर दी, वह सराहने योग्य थी, परन्तु वहाँ के वास्तविक जीवन का परिचय तो हमें अपने हाउसबोट में जाकर ही मिल सका। नीले आकाश की छाया से नीलाभ झेलम के जल मे वे रगीन जलयान वर्षा से धुले आकाश मे इन्द्रधनुष की स्मृति दिलाते रहते थे।

जिसने इस प्रकार तरगो के स्पन्दित हृदय पर अछोर अन्त-रिक्ष के नीचे रहने का इतना सुन्दर साधन ढूँढ निकाला, उसके पास अवश्य ही वडा कवित्वमय हृदय रहा होगा। जीना सब जानते है और सौन्दर्य से भी सबका परिचय रहता है, परन्तु सौन्दर्य मे जीना किसी कलाकार का ही काम है।

हमारे पानी पर वने घर मे एक सुन्दर सजी हुई बैठक, सव सुख के साधनो से युक्त दो शयनगृह, एक भोजनालय और दो स्नानागार थे। भोजन दूसरे वोट मे वनता था, जिसके आधे भाग में हमारा माँझी सुलताना सपत्नीक, चीनी की पुतली-सी कन्या नूरी और पुत्र महमूद के साथ अपना छोटा-सा ससार वसाये हुए था। साथ ही एक तितली जैसा शिकारा भी था, जिसे पान की आकृति वाली छोटी सी पतवार से चला कर छोटा महमूद दोनो कूलो को एक करता रहता था।

हम रात को लहरों में झूलते हुए, खुली छत पर बैठ कर तट के एक एक दीपक को पानी में अनेक बनते हुए तब तक देखते ही रह जाते थे, जब तक नींद भरी पलकें बन्द होने के लिए सत्याग्रह न करने लगती थीं। और फिर सवेरे, तब तक कोई काम न हो पाता था, जब तक जल में सफेद बादलों की काली छाया अरुण हो कर फिर सुनहरी न हो उठती थी। इस फूलों के देश पर रुपहले-सुनहले रात-दिन बारी-बारी से पहरा देने आते जान पड़ते थे। वहाँ के असंख्य फूलों में दो जंगली फूल सजारपोश और लालपोश मुझे बहुत प्रिय लगे।

सजारपोश अधिक से अधिक संख्या में समाधि पर फूल कर अपनी नीली अधखुली पंखड़ियों से, अस्थि-पंजर को ढकनेवाली भूमि को नन्दन बना देता है और लालपोश हरे लहलहाते खेतों में अपने आप उत्पन्न हो कर अपने गहरे लाल रंग के कारण हरित धरातल पर जड़े पद्मराग की स्मृति दिला जाता है।

फूलों से अतिरिक्त इस स्वर्ग के बालक भी स्मरण की वस्तु रहेंगे। उनकी सजारपोश जैसी आँखें लालपोश जैसे होंठ, हिम जैसा वर्ण और भूमि जैसे मलिन वस्त्र उन्हें ठीक प्रकृति का एक अंग बनाये रहते हैं। अपनी सारी मलिनता में कैसे प्रिय लगते हैं वे! मार्ग में चलते-चलते न जाने किस कोने से कोई भोला बालक निकल आता है। 'सलाम जनाब पाना' कह कर विस्मय भरी आँखों से हमारी ओर देखने लगता है। उसकी गम्भीरता देख कर यही प्रतीत होता था कि उसने सलाम कर के अपने गुरुतम कर्तव्य का पालन कर दिया है अब उसे चलने वाले के कर्तव्य-

पालन की प्रतीक्षा है। शीत ने इन मोम के पुतलो को अगारो मे पाला है और दरिद्रता ने पाषाणो में। प्राय सवेरे कुछ सुन्दर-सुन्दर बालक नगे पैर पानी में करम का साग लेने दौडते दिखाई देते थे और कुछ अपना शिकारा लिये 'सलाम जनाब, पार पहुँचाएगा' पुकारते हुए। ऐसे ही कम अवस्था वाले बालको को कारखानो मे शाल, रेशम आदि पर गम्भीर भाव से सुन्दर बेल-बूटे बनाते देख कर हमे आश्चर्य हुआ।

काश्मीरी स्त्रियाँ भी बालको के समान ही सरल जान पडी। उनके मुख पर न जाने कैसी हँसी थी, जो क्षण-भर मे आँखो मे झलक जाती थी और क्षण-भर में होठो मे। वे एडी चूमता हुआ कुरता और उसके नीचे पायजामा पहन कर एक छोटी-सी ओढनी को कभी कभी बीच से तह कर के तिकोना बना कर और कभी-कभी वैसे ही सिर पर डाले रहती हैं। प्राय मुसलमान स्त्रियाँ ओढनी के नीचे मोती लगी या सादी टोपी लगाये रहती है, जो देखने मे सुन्दर लगती है।

प्रकृति ने इन्हें इतना भव्य रूप दिया, परन्तु निष्ठुर भाग्य ने दियासलाई के डिब्बे जैसे छोटे मलिन अभव्य घरो मे प्रतिष्ठित कर और एक मलिन वस्त्रमात्र देकर इनके सौन्दर्य का उपहास कर डाला और हृदयहीन विदेशियो ने अपने ऐश्वर्य की चकाचौध से इनके अमूल्य जीवन को मोल ले कर, मूल्यरहित बना दिया। प्राय इतर श्रेणी की स्त्रियाँ मुझे कागज मे लपेटी कलियो की तरह मुर्झाई मुस्कराहट से युक्त जान पडी। छोटी-छोटी बालि-काओ की मन्द स्मित में याचना, प्रौढाओ की फीकी हँसी में

विवशता और वृद्धाओं की सरल चितवन में असफल वात्सल्य झाँकता रहता था।

इसके अतिरिक्त सफेद दुग्धफेनिभ दाढ़ी वाले, आँखों में पुरातन चश्मा चढ़ाये, पतली उँगलियों में सुई दबा कर कला को वस्त्रों में प्रत्यक्ष करते हुए शिल्पकार भी मुझे तपस्वियों जैसे ही भव्य लगे। उस सुन्दर हिमराशि में समाधिस्थ पर्वत के हृदय में इतनी कला कैसे पहुँच कर जीवित रह सकी, यह आश्चर्य का विषय है। कोई काठ जैसी नीरस वस्तु को सुन्दर आकृति दे कर सरस बना रहा था। कोई कागज कूट कर बनाई वस्तुओं पर छोटी तूलिका से रंग भर-भर कर उसमें प्राण का संचार कर रहा था और कोई रंग-बिरंगे ऊन या रेशम से सूती और ऊनी वस्त्रों को चित्रमय जगत् किये दे रहा था। सारांश यह कि कोई किसी वस्तु को भी ईश्वर ने जैसा बनाया है, वैसा नहीं रहने देना चाहता था।

काश्मीर के सौन्दर्य-कोष में सब से मूल्यवान मणि वहाँ के शालामार और निशातबाग माने जाते हैं और वास्तव में सम्राज्ञी नूरजहाँ और जहाँगीर की स्मृति से युक्त होने के कारण वे हैं भी इसी योग्य। शालामार में बैठ कर तो अनायास ही ध्यान आ जाता है कि यह उसी सौन्दर्य प्रतिमा का प्रमोदवन रह चुका है, जिसे सिंहासन तक पहुँचाने के लिए उसके अधिकारी को स्वयं अपने जीवन की सीढ़ी बनानी पड़ी और जब वह उस तक पहुँच गई, तब उसकी गरिमा से संसार काँप उठा। यदि वे उन्नत, सघन और चारों ओर वरद हाथों की तरह शाखाएँ फैलाये हुए चिनार के

वृक्ष बोल सकते, यदि आकाश तक अपने सजल उच्छ्‌वासों को पहुँचाने वाले फौवारे बता सकते तो न जाने कौन-सी करुण-मधुर कहानी सुनने को मिलती।

जिन रजकणो पर कभी रूपसियो के रागरजित सुकोमल चरणो का न्यास भी धीरे-धीरे होता था, उन पर जब यात्रियो के भारी जूतो के शब्द से युक्त कठोर पैर पडते थे, तब लगता था कि वे पीडा से कराह उठे है।

किवदन्ती है कि पहले शालामार का निर्माण और नामकरण श्रीनगर बसाने वाले द्वितीय प्रवरसेन द्वारा हुआ था। फिर उसी के भग्नावशेष पर जहाँगीर ने अपने प्रमोद उद्यान की नीव डाली।

अब तो उसके अनन्त प्रतीक्षा से जीर्ण वृक्षो की पक्ति मे, किसी परिचित पदध्वनि को सुनने के लिए निस्तब्ध पल्लवो मे भू पर क्षणिक वितान बना देने वाले फौवारो के सीकरो मे और भगिमामय प्रपातो में पारस्य देश की कला की अमिट छाप है। हमारे, अजस्र प्रवाहिनी सरिताओ से निरन्तर सिक्त देश ने, जल को इतने बन्धनो में बाँध कर नर्तकी के समान लास सिखाने की आवश्यकता नही समझी थी, परन्तु मुसलमान शासको के प्रभाव ने हमारे सजीव चित्र से उपवनो को सजल विविधता युक्त बना दिया। जिस समय फौवारे सहस्रो जल-रेखाओ में विभाजित हो कर आकाश मे उड जाने की विफल चेष्टा मे अपने तरल हृदय को खड-खड कर पृथ्वी पर लौट आते है, मूक प्रपातो से अश्रुपात होने लगता है, उस समय पानी के बीच मे बनी हुई राजसी काले पत्थर की चौकी पर

किसी अनन्त अभाव की छाया पड़ कर उसे और भी अधिक कालिमामय कर देती है।

इस झील की दूसरी ओर सौन्दर्यमयी नूरजहाँ के भाई आसफअली का, पहाड़ के हृदय से चरण तक विस्तृत निशातबाग है, जिसकी क्रमशः ऊँचाई के अनुसार निर्मित १२ चबूतरों के बीच से, अनेक प्रकार से खोदी हुई शिलाओं पर से, झरते हुए प्रपात अपना उपमान नहीं रखते। इसकी सजलता में शालामार की सी प्यास छिपी नहीं जान पड़ती, वरन् एक प्रकार का निर्वेद मनुष्य को तन्मय सा कर देता है। मनुष्य ने यहाँ प्रकृति की कला से अपनी कला इस प्रकार मिला दी है कि एक के अन्त और दूसरी के आरम्भ के बीच में रेखा खींचना कठिन है। अतः हमें प्रत्येक क्षण एक का अनुभव और दूसरे का स्मरण होता रहता है। इसके विपरीत अन्तःपुर की सजीव प्रतिमाओं के लिए, उन प्रतिमाओं के आराधक और आराध्य बादशाह के लिए तथा उनके कौतुक से निर्मित सर्वसाधारण के लिए तीन भागों में विभक्त शालामार के पत्ते पत्ते में मनुष्य की युगों से प्यासी लालसाओं की अस्पष्ट छाया, मदिरा की उन्माद मादकता लिये भ्रमती सी जान होती है, परन्तु दोनों ही अपूर्व हैं इसमें सन्देह नहीं।

इस चिर नवीन स्वर्ग से सुन्दर शरीर के मर्म में लगे हुए, व्रण के समान अपने हृदय में रोमांचकारी पीड़ा लाता है, यह कश्मीर फिर चलने योग्य मार्ग चाहती है।

कला और हमारा चित्रमय साहित्य

जिस प्रकार मानव-शरीर का जितना बाह्य अश हम अपने चक्षुओ से देख सकते है, उतना उसे पूर्ण नही बना पाते, उसके हृदय, मस्तिष्क आदि अनेक हमारी दृष्टि से छिपे अग उसे पूर्णता दे कर कार्य के योग्य बनाते है, उसी प्रकार देश काल की सीमा में बंधा हुआ, परिस्थितियो मे ढला हुआ मनुष्य का जितना जीवन हमारे सम्मुख रहता है, उतना ही उसकी पूर्णता के लिए पर्याप्त नही होता। उसकी पूर्णता के लिए हमे केवल चलने, काम करने या देखने वाले सीमित जीवन को ही नही समझना पडेगा, वरन् कल्पना-लोक में विचरते, स्वप्न देखते तथा सत्य को खोजते हुए जीवन को भी जानना होगा।

मनुष्य का जीवन रागात्मक तथा इतिवृत्तात्मक अनुभूतियो का सघात कहा जा सकता है जिनमे एक उसे व्यावहारिक ससार के लिए उपयोगी बनाती है और दूसरी एक अलौकिकता की सृष्टि कर कला को जन्म देती है, जो व्यावहारिक जीवन की रुक्षता को सरस बनाती हुई उसके सम्मुख विकास का सुन्दरतम आदर्श उपस्थित करती रहती है। वास्तव में मनुष्य मे सत्य का ऐसा एक क्रियात्मक और रहस्यमय अश छिपा हुआ है, जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए सुन्दरतम साधन खोजता रहता है और इस

सत्य का सौन्दर्य में रागात्मक प्रकाशन ही कला के सत्य शिव सुन्दर की परिभाषा हो सकता है।

कलाकार का लक्ष्य जीवन की कुरूपता तथा सौन्दर्य, दुर्बलता तथा शक्ति, पूर्णता और अपूर्णता सब की सामञ्जस्य-पूर्ण रागात्मक अभिव्यक्ति है और उसकी चरम सफलता जीवन तथा विश्व में छिपे हुए सत्य को सब ओर से स्पर्श कर लेने में निहित है। हम बाह्य विश्व को दो दृष्टिकोणों से देख सकते हैं—प्राकृतिक और मानवीय, एक के द्वारा हम वस्तुओं के भौतिक उपकरणों का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य को भी उन्हीं की श्रेणी में सम्मिलित कर लेते हैं, दूसरे से विश्व के विभिन्न रूपों में व्यक्तित्व का आरोपण कर उन्हें भी मनुष्य के संगी के रूप में स्वीकार कर उनके सौन्दर्य पर मुग्ध और अश-क्तता पर खिन्न होने लगते हैं। पहला दृष्टिकोण वैज्ञानिक तथा दार्शनिक से सम्बन्ध रखता है और संसार की सारी रूपता में कंकाल दिखा कर उसकी नश्वरता के प्रति हमारे हृदय में विराग उत्पन्न किये बिना नहीं रहता। दूसरा कलाकार का है, जो विश्व की अपूर्णता को अपनी कल्पना से पूर्ण और उसके सौन्दर्य के आवरण में सत्य की झाँकी दिखा हमारे हृदय में आनन्द उत्पन्न कर देने में समर्थ है।

सार में अलौकिक दोनों हैं, परन्तु एक परिचित वस्तु को भी अपरिचित बना कर उसमें दूरी की भावना को जन्म देता है, दूसरा परिचित को परिचिततम बना कर उसे अपना एक अंग मान लेने पर बाध्य करता है। उदाहरणार्थ—रश्मियों के तोड़ने के लिए,

उत्सुक तरग-शिशुओ से हमारा निकटतम परिचय है, परन्तु जल को वनाने वाले हाइड्रोजन और ऑक्सीजन से हम अपरिचित है। इसी से एक को हम चाहते है तथा दूसरे से अपना ज्ञानकोष बढा कर भी दूर रहना चाहते है।

इन्ही कारणो से कलाकार हमारे जीवन मे एक विशेष स्थान रखता है। वह अपनी एकत्रीकरण शक्ति से एक वस्तु की अपूर्णता मे दूसरी की पूर्णता मिला कर एक ऐसी नवीन वस्तु का निर्माण कर देता है, जो हमारे लिए सौन्दर्य, शक्ति आदि का अमर आदर्श वन सकती है। इसी से हमारे जीवन के उच्च और सुन्दरतम् आदर्श कलाकारो की ही कृतियाँ रहे है।

कलाकार यदि सत्य अर्थों मे कलाकार हो, तो वह कल्पना को सौन्दर्यमय आकार देगा, उसमे वास्तविकता का रग भरेगा और उससे जीवन-सगीत की सुरीली लय की सृष्टि कर लेगा। उसके, कला मे साकार आदर्श तलवार की झझनाहट मे नही टूटते, वाँसुरी की मादक तान मे नही वह जाते, मनुष्य की दुर्वलता पर हताश नही होते, कुरूपता पर कुठित नही होते और क्षणिक् सौन्दर्य पर चमत्कृत होना भी नही जानते। सभी सुगम दुर्गम मार्गों मे, सारे सुख दुखो मे, सारी फूल-शूलमयी परिस्थितियो में कला जीवन की सगिनी रही है और भविप्य मे भी रहेगी।

कला, कला के लिए है या जीवन के लिए, यह प्रश्न उत्तर को अपने भीतर ही छिपाये हुए है। कला यदि जीवन की, सौन्दर्य में, सत्य मे अभिव्यक्ति है तो भी वह जीवन से सम्वद्ध है। वह यदि जीवन की अपूर्णताओ को पूर्ण करने का प्रयास है तो भी उसके

निकट है और यदि केवल उसमें प्रसूत या उसका प्रतिबिम्ब है तो भी उसी की है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि जीवन कला-मय है और कला सजीव, अतः इनका परस्पर अपेक्षित अस्तित्व अनपेक्षित बन कर नहीं जी पाता, चाहे निर्जीव प्रतिमा बन कर रह सके। प्राय कार्य और कारण या उपकरण और उनसे बनी वस्तु में रूप, रंग और आकार की भिन्नता हो जाती है, प्रकृति की नहीं, परन्तु हमारी कला उन कार्य कारण सम्बन्धी नियम के अनुसार नहीं चलती, कारण वह क्षणिक जीवन से प्रसूत हो कर भी अमर है। वह हमारे नीरस जीवन को सरस बनाने में, निराश्रय हृदय को अवलम्ब देने में और हमारे साधारण जीवन के लिए आदर्श स्थापित करने में सदा से समर्थ रही है।

हमारा जीवन अपनी उच्चतम, प्रियतम भावनाओं को, कल्पनाओं को उसमें साकार करता है और फिर उन आकार के अनुसार अपने आपको बनाने का प्रयत्न करता रहता है।

कलाओं में काव्य जैसी श्रव्य कलाओं की अपेक्षा चित्र जैसी दृश्य कलाओं की ओर मनुष्य स्वभावतः अधिक आकर्षित रहता है। मूर्तिकला, चित्रकला आदि दृश्य कलाएँ एक ही साथ हमारे नेत्र, स्पर्श और मन की तृप्ति कर सकती थीं, इसी से वे हमें अधिक सुगम और तात्कालिक आनन्ददायिनी जान पड़ीं। विशेष कर चित्रकला, मूर्तिकला के काठिन्य से रहित और रंगों से सजीव होने के कारण अधिक आदृत हो सकी। वह [illegible] इतनी [illegible] है कि [illegible] में [illegible] से [illegible] ज्ञान [illegible] द्वारा [illegible]

जाता है। यह जीवन के निकट इतनी है कि बालक पहले सारे प्रत्यक्ष ज्ञान को टेढी-मेढी रेखाओ में बाँधने का प्रयत्न किये बिना नही रहता। प्राचीनकाल में इसने मनुष्य के निकट कितना सम्मान पाया, इसका निदर्शन अजन्ता तथा एलोरा के गह्वरो मे अकित चित्र है। पुरातन काल की सभी पौराणिक कथाएँ चाहे विरही यक्ष से सम्बन्ध रखती हो, चाहे राजा दुष्यन्त मे बिना इस कला के मानो पूर्ण ही न होती थी।

कला मनुष्य से सम्बन्ध रखती है और मनुष्य को किसी विशेष वातावरण मे पल कर बडा होना पडता है जिसके प्रभाव से पूर्णतया मुक्त हो सकना उसके लिए सम्भव नही। यह वातावरण सामाजिक परिस्थितियो से और सामाजिक परिस्थितियाँ प्राय राजनैतिक परिस्थितियो से प्रभावित हो कर विशेष रूपरेखा पाती है। परन्तु, यह निर्विवाद है कि प्रत्येक परिस्थिति अपनी समस्याओ से ऊपर उठ सकने वाले कलाकारो को उत्पन्न कर लेती है। एक युग की विशेष परिस्थितियाँ और उनके अनुरूप निर्मित आदर्श दूसरे युग में ठीक उसी रूप मे नही लौटते और यदि लौटे भी तो विकास की गति मे बाधा ही बन कर लौटेंगे। उपयोगी बने रहने के लिए उन्हें पुरानी आत्मा को नये कलेवर में छिपाकर अवतीर्ण होना पडता रहा है। जिस समय शत्रु सम्मुख थे, हाथ मे असि थी, उस समय कला का आह्वान हृदय की सारी रौद्रता और निष्ठुरता जगाने के लिए ही हुआ था। उसके उपरान्त जब पराजित जाति हताश थी, अपमान के शूल से विधा हृदय लिये तडप रही थी, उस समय कला एक हाथ में भक्ति की सुधा

और दूसरे में विज्ञान की महिमा लेकर अवतीर्ण हुई। कोई तन्मयता में अपने आपको भूला और किसी ने नशे में आत्म-विस्मृता हुआ थी। इसी प्रकार समय की लहरों से परिस्थितियों और परिस्थितियों से कला में परिवर्तन आते रहे, जिन पर उनके युग विशेष की अमिट छाप थी। हमारे वर्तमान युग की भी विशेष परिस्थितियाँ हैं परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि कला इस युग में सुषमा और महिमा दोनों ले कर उतरी है या केवल महिमा।

अन्य कलाओं के समान चित्रकला ने केवल विशेष उन्नति ही नहीं की, वरन् वह उत्तरोत्तर व्यापकता से व्यापकतर होती जा रही है। विशेष कर हमारे प्रौढ़ पत्र-साहित्य ने बालक के समान चित्र-कला की उँगली पकड़ कर इस प्रकार चलना आरम्भ किया है कि उसे अब चित्र-साहित्य के नाम से पुकारना अधिक उपयुक्त होगा।

मासिक हो चाहे साप्ताहिक, सभी पत्रों की अच्छी से अच्छी पाठ्य सामग्री के रहते हुए भी सुन्दर उत्तेजक चित्रों के बिना मृत्यु निश्चित दिखाई देने लगती है। जनता की विकृत रुचि, चित्रकारों की दुरवस्था, चित्रों का सस्तापन, छापने की सुविधा सब ने मिल कर इस कला के आदर्श की प्रतिमा को ऊँचे वेदी से गिरा कर तोड़ना आरम्भ किया है। इसे देखते हुए यह अनुमान कर लेना असंगत नहीं कि कुछ दिनों में इसके टूटे निर्माण मिलने लिखा न रहेगा।

इससे जो न्यूनता शेष रह जायगी वह वह कलाविदों की

अभिनेत्रियो और कलाविद् फोटोग्राफर्स ने पूर्ण कर दी है, यह कहना अतिशयोक्ति न होगी। यदि हम चित्रो की दृष्टि से अपने पत्र-साहित्य के विभाग कर सके तो वे चार श्रेणियो में रक्खे जा सकते हैं—एक तो वे पत्र जो अपनी सुरुचि और उच्चादर्श के अनुरूप केवल ऐसे ही चित्रो को स्थान देते है, जिनका आरम्भ यथार्थवाद और अन्त आदर्शवाद में होता हो, जिनमें किसी प्रकार की कुरुचि और उत्तेजना के प्रवेश के लिए, छोटा-सा रन्ध्र भी न मिल सकता हो। ऐसे चित्र अपनी अपेक्षाकृत न्यूनता के कारण मँहगे और सब के लिए अप्राप्य तो है ही, साथ ही उन्हे समझने वाले व्यक्तियो की सख्या भी इनी-गिनी ही रहती है। उनके द्वारा चित्रकला का आदर्श उन्नत हो सकता है, सुन्दर के साथ शिव का सयोग भी हो सकता है, परन्तु उनके द्वारा स्थापित आदर्श तक सर्वसाधारण को ले जा सकना अभी शताब्दियो का कार्य है। ऐसे चित्रो मे प्राचीन आदर्शो के साथ नवीन परिवर्तनो का इतना अनुकूल सम्मिलन हुआ है कि यह अपनी विविधता, सजीवता और सौन्दर्य के लिए कलाविदो को सदा प्रिय रहेंगे, परन्तु जब तक यह सब के या अधिक से अधिक सख्या के लिए सुलभ न हो जावें, तब तक इनसे कोई स्थायी उपकार हो सकना कठिन जान पडता है।

दूसरे वे है जो अपनी सकीर्ण सात्विक वृत्ति की रक्षा के लिए एक विशेष अग-भगी से खडे श्रीकृष्ण, विशेष प्रकार से धनुष धारण किये हुए राम या किसी और देवता के चित्र के अतिरिक्त कुछ और देना, चाहे वह कला का उत्कृष्टतम निदर्शन क्यो न हो,

स्वीकार नहीं करते। इन चित्रों में न सजीवता रहती है न कला, मानो लकड़ी पर एक आकार खोद कर सब स्थानों में छाप दिया हो। मर्यादा पुरुषोत्तम के नाम से, प्रख्यात राम और योगिराज कृष्ण के पराक्रम और ज्ञान को रेखाओं में सजीव कर देने में समर्थ चित्रकार न उन्हें मिलता है और न वे उसे खोजने का कष्ट ही उठाना चाहते हैं। ऐसे चित्रों के आधार पर, यदि अपकार करते हैं तो केवल इतना कि कला के आदर्श को अपेक्षाकृत अवनत करके जनसाधारण की रुचि को परिष्कृत नहीं होने देते और यदि उपकार करते हैं तो इतना कि रचना और पाठक दोनों को निर्बन्ध नहीं बहने देते।

विषय पर कोई रचना निर्भर नहीं रहती। सच्चे चित्रकार की तूलिका भगवान् बुद्ध की चिर शान्त मुद्रा अंकित करके भी अमर हो सकती है और हल कन्धे पर रखकर घर लौटने वाले कृषक का चित्र बनाकर भी अमर हो सकती है। रचनाकार अमरता का विधायक स्वयं हो सकता है, परन्तु तभी, जब उसकी कला उसकी अनवरत साधना से तपकर खरा सोना बनकर निकलती है। ऐसे कलाकारों का अभाव है, यह सत्य नहीं, परन्तु इसमें बहुत कुछ सच है कि हम उन्हें न पहचानते हैं और न पहचानने का प्रयत्न करते हैं। फलतः अनभिज्ञों के हाथ में पड़कर न तो कला निखरती है और न जिनके लिए कला अवतीर्ण हुई है, उनकी रुचि ही विकास पाती है।

तीसरी श्रेणी में वे सचित्र पत्र-पत्रिकाएँ रखी जा सकती हैं, जिन्हें अपने व्यवसाय के अतिरिक्त किसी की चिन्ता नहीं। इन्हें

न कला की उन्नति-अवनति से सम्पर्क रखना है, न जनसाधारण की भलाई-बुराई का विचार करना है, अत प्राय वे साधारण मनुष्यो की दुर्बलता से लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं, उसे दूर करने का नही। वैसे तो सारा चित्रजगत् ही स्त्रीमय हो रहा है, परन्तु जिन्हे केवल व्यवसाय की चिन्ता है उनके पत्रो ने तो स्त्रियों की शोचनीय दुर्दशा कर डाली है। जिस चित्रकार को देखिए अस्तव्यस्त या विवस्त्रा युवती का चित्र वना रहा है। उसी की माँग है, फिर परिस्थितियो का दास चित्रकार क्या करे।

युवती का चित्र देना कोई दोष नही है, परन्तु उसके पीछे जो एक पाशविक मनोवृत्ति छिपी है, उसी को अमगलमयी कहना चाहिए। यदि एक चित्रकार हिमालय की चोटी को छूकर रगो के फव्वारे की तरह विखर जाने वाली किरणो को अकित करने के लिए विकल हो उठा हो, अशान्त समुद्र की ऊँची-नीची लहरो मे भूल-भूल कर अन्त की ओर जाती हुई छोटी तरणी का चित्र वनाने के लिए उसका हृदय उमड आया हो, जर्जर वस्त्र में लिपटे क्षीण-मलीन वालक का हाथ पकड कर पेड के नीचे आ बैठने वाली अन्धी भिखारिन का चित्र आँकते-आँकते यदि उसकी तूलिका थक गई हो और सुनहली गोधूली मे लौटते हुए श्रान्त कृशकाय कृषक और उसकी रूखे बिखरे वालो वाली बालिका का मुख यदि उसके कागज पर उतर आया हो, तो वह युवती का सौन्दर्य भी अकित करके और अधिक पवित्र हो उठेगा। उसके लिए स्त्री का सौन्दर्य ससार के अखड सौन्दर्य का एक खड मात्र है। जव ऐसा नही होता और चित्रकार केवल वासना से सूखे

पटवालों के लिए नारी के पूत सौन्दर्य को मदिराधारा बनाकर बहाने लगता है तब अवश्य ही उसमें न कला का आदर रह जाता है न स्त्री का। प्राचीन चित्रों में चीरहरण लीला को हम अश्लील समझा करते थे, अब स्वयं ही उसे दूसरे रूपों में दिखाने में भी हम कुण्ठित नहीं होते।

चौथी श्रेणी में आने वाली बाज़ारू सम्बन्धी पत्रिकाओं के अद्भुत चित्रों और सर्जन की छाँह से भी दूर चित्र-पत्रिकाओं के विषय में तो 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' कहना चाहिए। वह तो चित्रकार की कल्पना नहीं है। सत्य का प्रतिबिम्ब है। जैसे-जैसे नग्न नृत्य वे कला के नाम पर करा लेते हैं और हम सब असीम धैर्य से देख आते हैं, वह सत्य होकर भी कहानी जैसा लगता है। इस समानता के वश में स्त्री माँगने गई थी अपनी स्वतन्त्रता और दे आई उस प्रकार स्त्रीत्व के प्रदर्शन का वचन। बाज़ार के पोस्टर, दवा के, तैल के विज्ञापन, पत्र-पत्रिकाओं का अधिकांश बाज़ारूपन, सब तरह जगह स्त्री का जैसा प्रदर्शन पुरुष करना चाहते हैं अकुण्ठित भाव से करते हैं। यदि वह बाधा डालती है तो इन्हीं वीभत्स प्रदर्शनों को स्वाधीनता का चिह्न बनाकर उसे समझा दिया जाता है। वह स्वयं यह नहीं जानती कि इससे उसका आदर हो रहा है या अनादर, पहले से अच्छी दशा है या नहीं। वह सोचती है, उसे समाज के उन्मुक्त वातावरण में स्वच्छन्द भाव से आने-जाने का अधिकार मिल गया है, जिसके लिए वह युगों से लालायित थी। जिस जाति ने स्त्रियों की एक बड़ी संख्या को समाज, धर्म आदि के सब बन्धनों से तोड़कर अपनी स्वच्छन्द

प्रवृत्तियो की परिचर्या कराने के लिए ही, मुक्त कर रखा है, वह स्त्रियो की वास्तविक स्वाधीनता का मर्म कितना जानती होगी, यह कहना कठिन है।

केवल सिद्धान्त रूप से या स्त्रियो के प्रति निरादर का विचार कर ऐसे चित्र और प्रदर्शन बहिष्कार के योग्य न समझे जावे, तो भी समाज के नवयुवको की मनोवृत्तियो पर पडने वाला उनका प्रभाव उन्हें आपत्तिजनक प्रमाणित किये बिना न रहेगा। अवश्य ही प्राचीन युग के, एकान्त में स्त्री का चित्र भी न देखने देने वाले सिद्धान्त इस बीसवी सदी के लिए उपयुक्त नही होगे, परन्तु इसके विपरीत एकान्त और कोलाहल दोनो ही में स्त्रीमय जगत् देखना भी हमारे जीवन के लिए उपयुक्त न होगा। एक ओर हम जिन स्त्रियो को समाज का कलक कहकर बस्ती के एक कोने मे फेक आने को उत्सुक है, दूसरी ओर आकर्षक परिचय दे कर उन्ही के चित्र छापकर उसी रुचि को प्रश्रय देने मे भी हमे सकोच का कारण नही दिखाई देता, यही विचित्रता है। सजीवनी जडी तो आज तक किसी को नही ज्ञात हुई, परन्तु मृत्यु को तत्क्षण उपस्थित कर देने वाली विषबूटियो को सब जानते पहचानते है। इस मुमूर्षु जाति के आलसी और अकर्मण्य, युवको के रक्त मे जीवन शक्ति पहुचाने का उपाय तो ढूंढने वाले ढूंढते-ढूंढते ही नष्ट हो गये, परन्तु इस तन्द्रा को मृत्यु के समान स्थिर कर देने वाली ज्वालामुखी मदिरा विना खोजे ही सब को प्राप्त हो गई।

आज का बालक क्या देखता, क्या समझता और किस प्रकार अपने आगामी जीवन की रूपरेखा निर्धारित कर लेता है, इसका

यदि निरीक्षण किया जावे, तो कदाचित् ही कोई ऐसा कठिन हृदय व्यक्ति होगा, जिसके प्राण न सिहर उठें। जब क्षय के कीटाणुओं के समान विषैली दुर्भावनाओं और अस्वाभाविक वासनाओं के कीटाणु उनके मन में, उनके विचारों में और उनकी कल्पनाओं में बस जाते हैं, तब उनका स्वस्थ युवक हो सकना सम्भव नहीं। चित्र जिस प्रकार बालक की मानसिक वृत्तियों का केन्द्र बन सकता है, उसके मस्तिष्क और मन दोनों पर स्थायी संस्कार छोड़ जाता है, उस प्रकार कोई और कला नहीं कर सकती। अतः यदि हम अपनी चित्रों की सृष्टि की रचना में विशेष सतर्क न रह सके, तो सम्भव है अपना और दूसरों का अत्यधिक अपकार कर डालेंगे। हमारे सस्ती उत्तेजना फैलाने वाले चलचित्र जो अपकार कर सके हैं, वही हमारे पतन को दयनीय बनाने के लिए पर्याप्त है। उस दशा को और अधिक शोचनीय बना देने में न कोई विशेष पुरुषार्थ है न लाभ। अवश्य ही हमारे पाठकों की एक विशेष रुचि बन गई है। अच्छे चित्रकार भी सस्ता से सस्ता और सब के लिए अप्राप्य है। इसे सब की रुचि के विपरीत जाने के प्रयत्न में हानि भी सहनी पड़ेगी; परन्तु यह न भूलना चाहिए कि ऊँचे लक्ष्य तक पहुँचने में असफलता उतनी बुरी नहीं, जितना कि लक्ष्य को नीचा बनाते रहना है।

कुछ विचार

हमारे इस विशाल देश की वाह्य अनेकता जिस सीमा तक अपरिचय का कोहरा फैलाती है, उसी सीमा तक इसकी सास्कृतिक एकता से, परिचय-जनित आस्था की किरणें फूटती रहती है। इस प्रकार इसके वहिरग मे अतरग को देखना, निरन्तर नवीनता में चिरन्तन परिचित को पाना हो जाता है।

यह भौतिक अनेकता और तात्विक एकता इस देश की विभिन्न भाषाओ और उनके साहित्य मे सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ व्यक्त हुई है। प्रादेशिक लिपियो तथा शब्दावली विशेष की ऊँची-नीची प्राचीरो के ऊपर उठकर एक प्रदेश की, जीवन, धर्म, सौन्दर्य सम्बन्धी जिज्ञासाएं और समाधान एक सामान्य वायुमडल मे उसी प्रकार एकाकार हो जाते है जिस प्रकार अनेक फूलो के हृदय से निकला हुआ परिमल घुलमिल कर एक हो जाता है। इसी से समग्र देश की जिज्ञासाओ और समाधानो मे एक ऐसी विशेषता उत्पन्न हो गई है, जो भारत मे अनेक नाम पाकर भी विश्व भर मे एक भारतीय नाम से जानी-पहचानी जाती है।

एक महती भाषा सब का उद्गम होने के कारण हमारी विविध प्रादेशिक भाषाएं सामान्य शब्द भडार से अपना दाय भाग

पाती रही हैं और हमारा एक छोर जीवन अपने हृदय और बुद्धि के संस्कार के लिए एक से साधन खोजता रहा है।

हिन्दी की सहोदराओं में महाराष्ट्री प्राकृत से प्रसूत मराठी उसकी निकटतम सहयोगिनी कही जा सकती है, क्योंकि दोनों के बीच में लिपि की भित्ति भी नहीं है। नागपुर, गोमन्तक और पश्चिमी घाट के विस्तार में १,३३,००० वर्ग मील में बोली जाने वाली इस भाषा के साहित्य ने सदियों के लम्बे सोपान पार किये हैं और हिन्दी के समान ही उसके जीवन में भी आलोक-अन्धकार ने अविरल चित्र-रचना की है। समग्र देश की संघर्ष-कथा में उसका परिच्छेद उज्ज्वल है। इतना ही नहीं, उसकी वीरता पर साधना का पानी है।

हिन्दी के समान ही मराठी के साहित्यिक उत्कर्ष का श्रेय उन साधकों को है, जिन्होंने संस्कृत की कठिन सीमा में आबद्ध धर्म और संस्कृति को जन भाषा में मुक्त प्रवाह दिया।

श्री ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि सन्तों की परम्परा में हम मानवमात्र की समानता और भक्ति के अधिकार की जैसी स्वीकृति पाते हैं वह हिन्दी के सन्त-साहित्य के लिए नवीन नहीं है।

सत्य तो यह है कि हमारे देश की भौगोलिक सीमाओं ने कभी हमारे विचारों के आगमन-पलायन का पथ नहीं अवरुद्ध किया। उत्तर के नाथ पंथ का ज्ञान जैसे बे रोक-टोक दक्षिण के समुद्रतटों को छू आया, दक्षिण की भक्ति का प्रवाह वैसे ही विन्ध्य की मेखला पार कर हिमालय से जा टकराया।

भारतीय सस्कृति के हृदय से उद्भूत ज्ञान और भक्ति की गगा यमुना हर प्रदेश की सरस्वती से मिल कर ऐसे नये प्रयागो की रचना करती गयी है, जो रूप से भिन्न जान पडने पर भी तत्त्वत एक ही कहे जायँगे।

महाराष्ट्र प्रदेश पर जैसे यादवो का स्वर्ण काल, यवनो की पराधीनता, शिवाजी का सघर्ष, अग्रेजी शासन आदि अनेक युगो के प्रवाह बह चुके है, वैसे ही उसके साहित्य को विविध धूपछाया और आँधी तफान के भीतर से मार्ग बनाना पडा है और यह निर्विवाद है कि राजमार्ग पर चलने वाले साहित्य से वह साहित्य अधिक समर्थ होगा, जिसे अपना पथ स्वय प्रशस्त करना पडता है।

यह सयोगजनित न होकर तत्कालीन सामान्य परिस्थितियो का परिणाम है कि हमारी प्रादेशिक भाषाओ के आदिम साहित्य, धर्म की सीमा मे उत्पन्न और साधना द्वारा पोषित हुए है। केवल विशेष सघर्प और जय पराजय ही इस समानता मे व्यतिक्रम उपस्थित कर सके है।

श्रीविट्ठल की भक्ति मे केन्द्रित वारकरी सम्प्रदाय,ज्ञानाश्रयी नाथ पथ, कृष्णभक्ति प्रधान महानुभाव पथ आदि से मराठी वाङमय को गरिमा और माधुर्य की जो विविधता मिली है, वह किसी भी साहित्य के लिए गर्व का कारण हो सकती है।

ज्ञानेश्वरी टीका तथा दासवोध जैसे तत्त्वपरक ग्रन्थो, भक्ति मे रससिक्त अभग पदो, वीरगाथाओ मे मुखर प्रवादो या पोवाडो, श्रृङ्गार से छलकती लावण्यमयी या लावनियो के प्रहर पार कर मराठी साहित्य ने आधुनिक युग की उस सीमा रेखा पर पैर रखा

है, जिसने उसकी दृष्टि के सामने नये रूप-रंगों के विस्तृत क्षितिज को आवरण मुक्त कर दिया।

कथा, उपन्यास, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि में तरंगायित होकर जीवन के असीम आकाश को अनन्त रूपों में बिम्बित-प्रतिबिम्बित करने वाला गद्य साहित्य आधुनिक युग का महत्त्वपूर्ण दान है, इसमें सन्देह नहीं।

पौराणिक गाथाएं, इतिहास के आख्यान, विशिष्ट जन-कथाएं आदि का क्रम पार कर हमारा आख्यान-साहित्य सामान्य जन के धूल-भरे आंगन में आ खड़ा हुआ है। आज अश्रु पवित्र इसलिए नहीं है कि वह किसी देवता की मूर्ति की स्थिर पुतलियों में छलक उठा है, हँसी सुन्दर इसलिए नहीं है कि वह किसी दिव्य अधर पर झलक उठी है और स्पन्दन महत्त्वपूर्ण इसलिए नहीं है कि वह किसी अमर के वक्ष को चंचल करता है। वरन् इन सब के पूत, सुन्दर और मूल्यवान होने का एकमात्र कारण है कि ये साधारण मनुष्य की जन्मजात विशेषताएं हैं।

इस प्रकार आधुनिक युग का साहित्य, पूर्ण देवता पर अपूर्ण मानव की विजय का लेखा है।

अंग्रेजों की पराधीनता के विरोध में जाग्रत राष्ट्रीय चेतना तथा सामाजिक रूढ़िग्रस्तता के विद्रोह में उत्पन्न सुधार आन्दोलनों ने हिन्दी और मराठी दोनों के गद्य को प्रगतिशील विकास दिया है। अनुवाद, जिसका अर्थ कहा जा सकता है वह गद्य आदर्श, आदर्शोन्मुख यथार्थ, कठोर यथार्थ की अनेक भूमियां पार करता हुआ आज मनुष्य के मनस्तत्त्व की ऐसी भूमि पर

प्रतिष्ठित हो चुका है, जहाँ से वह मनुष्य के प्रत्येक कार्य और जीवन की प्रत्येक घटना को ही नही, उस कार्य और घटना की पृष्ठभूमि मे छिपे असख्य सस्कारो और आवेगो का भी परीक्षण कर सकता है।

कादम्बरी की अनुकृति से आकार पाकर उपन्यास और बालबोध कथा से गति पाकर कहानी-साहित्य आज जीवन के कोमलतम स्तरो के प्रत्यक्षीकरण और परिष्करण मे समर्थ हो सके है । ललित साहित्य ही नही, कोश रचना, व्याकरण जैसे उपयोगी साहित्य भी मराठी के कोष की बहुमूल्य निधि है।

नाट्य साहित्य का प्रश्न उठते ही हमारा ध्यान सबसे पहले सस्कृत नाटको की ओर जाता है जो अपने देश में ही नही, विदेशी विद्वानो से भी अभिनन्दित हो चुके हैं ।

नाटक की दृष्टि से सस्कृत-साहित्य इतना अधिक समृद्ध है कि सस्कृत से जन्म और विकास पाने वाली प्रादेशिक भाषाओ के लिए अनुवाद का उपक्रम ही स्वाभाविक कहा जायगा। हिन्दी के राजा लक्ष्मणसिह, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और मराठी के कृष्ण शास्त्री राजवाडे, देवल और किर्लोस्कर ने सस्कृत नाटको के रूपान्तर को हिन्दी और मराठी मे प्रतिष्ठित किया। सन् १८७४ से लेकर वर्तमान काल तक नाटक-साहित्य ने परिणाम से लेकर प्रकार तक और तन्त्र से लेकर ध्येय तक विकास की जैसी चित्र-शाला प्रस्तुत की है, वह विस्मय की व तु है।

रगमच नाटक की कसौटी है, अत ये दोनो अविच्छिन्न सम्बन्ध मे बँधे रहेगे।

जिन परिस्थितियों के कारण हिन्दी की वीर गाथाओं और मराठी के शाहिर काव्य के बीच में कई सदियों का व्यवधान आ गया है, उन्हीं परिस्थितियों ने दोनों के नाट्य साहित्य के विकास में भी अन्तर उपस्थित कर दिया हो तो आश्चर्य की बात नहीं।

देश के अन्य भागों से अपेक्षाकृत पहले हिन्दी का क्षेत्र संघर्ष का केन्द्र बना और उस संघर्ष की समाप्ति पराजय में होने के उपरान्त परिस्थितियाँ इतनी बदल गयीं कि साहित्य के नाटक जैसे प्रकार का विकास कठिन ही था। फिर रंगमंच की स्थिति तो और दूर की कल्पना कही जायगी।

धर्म के क्षेत्र में रामलीलाएँ, रासलीलाएँ ही रंगमंच का अभाव जैसे तैसे पूरा करने लगीं और लोक-जीवन में स्वांग, नौटंकी आदि ही मनोरंजन के साधन रह गये। जब स्थिति में कुछ परिवर्तन सम्भव हुआ, तब व्यावसायिक पारसी थियेटर ही रंगमंच की भूमिका में आ उपस्थित हुआ, जो उर्दू की सस्ती रंगीनी से रंगीन, पर यहाँ के सांस्कृतिक स्पन्दन से शून्य था। जीवन की गहराई में जड़ें न होने के कारण ही वह व्यवसाय का साधन, सवाक चलचित्रों के तूफान में खो गया है।

हिन्दी भाषी क्षेत्र की सामाजिक रूढ़िवादिता ऐसी रही कि सम्भ्रान्त और शिष्ट व्यक्ति के लिए रंगमंच पर गया होना भी लज्जा का कारण माना जाता था।

हिन्दी नाटक, अनूदित, पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक समस्यात्मक आदि विभिन्न रूपों को पार कर एकांकी तक पहुँच जाने पर भी जिस प्राप्य से दूर है, वह मराठी नाटक को

अपने शैशव मे ही प्राप्त हो गया था। इस दृष्टि से मराठी अधिक भाग्यवती कही जायगी, क्योकि नाट्य साहित्य के साथ ही उसके रगमच का जीवन दीर्घ और विकास स्वस्थ है।

किर्लोस्कर के शाकुन्तल, सौभद्र, देवल के मृच्छकटिक, खाडिलकर के कीचक वध, स्वयवर जैसे नाटको से लेकर आधुनिकतम नाटक तक, रगमच की कसौटी पर परखे भी गये हैं और उन्होने रगमच की सीमा और सभावनाओ का परीक्षण भी किया है।

लोक-जीवन पर व्यापक और स्थायी प्रभाव डालने के साधनो में अन्यतम नाटक है, इस सत्य का बोध तो मनुष्य को युगो पहले हो चुका है, पर इस साधन की प्रयोगात्मक रूप-रेखा युग विशेष की समस्याओ के साँचे मे ढलती निखरती रही है।

जीवन भीतर से अनेक सस्कारो और मानसिक विकारों का और बाहर से घटनाओ का सघात है। इन घटनाओ की नाटकीय स्थितियाँ कभी-कभी मानसिक द्वन्द्वो और सघर्षो की ओर इस प्रकार सकेत कर देती हैं कि घटना अकेली न रहकर जीवन के निरन्तर क्रम मे स्थान पा लेती है। नाटक, सामान्य घटनाओ मे से ऐसी ही विशेष घटना का प्रत्यक्षीकरण है। जिस नाटककार की दृष्टि मानव प्रकृति के गहनतम स्तरो तक पहुंचने की शक्ति रखती है, वही बिखरी घटनाओ की सगति बैठा सकता है और उसी का चयन और प्रत्यक्षीकरण जीवन को गहराई मे स्पर्श कर पाता है।

साहित्य जीवन का चित्र अवश्य है, परन्तु वह फोटोग्राफी मात्र नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः, वह स्वप्नद्रष्टा चित्रकार की कुशल उँगलियों से आँका गया ऐसा चित्र है, जिसमें हर रेखा किसी सम्भाव्य यथार्थ को सत्य बनाती है और रंग किसी अलक्ष्य स्वप्न को धरती पर उतारता है। आज जीवन की वह परिस्थिति नहीं है, जिसमें कण्व का आश्रम सम्भव हो सकता, पर उससे शकुन्तला की मर्मव्यथा अपरिचित नहीं हो जाती। साहित्य और कला के लिए, 'क्षण क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' ही कहा जा सकता है। यह नवीनता वस्तु सापेक्ष न होकर तत्त्वगत है और वह तत्त्व असीम विविधता का कारण बनता रहता है।

आदिमयुग से आज तक मनुष्य अपने हृदय और बुद्धि का परिष्कार करता आ रहा है, पर इस क्रम के किसी भी बिन्दु पर उसकी मानसिक तथा बौद्धिक वृत्ति का तारतम्य नहीं टूटा। किसी भी युग में मनुष्य, जीवन की धोई पोंछी स्लेट पर अपने अनुभवों की वर्णमाला नहीं आरम्भ करता। मनुष्य के आँसू हँसी के कारण भिन्न हो सकते हैं, परन्तु उनसे सम्बद्ध विषाद, आनन्द एक ही रहेंगे।

इन मूलभावों की स्थिति को स्वीकार कर समाज अपनी स्थिति की रक्षा के लिए कुछ विधान रचता है, व्यक्ति अपनी निज-रक्षा के लिए कुछ नियम बनाता है। परन्तु मनुष्य से मनुष्य का सम्पर्क केवल विधान और नियम से सञ्चालित नहीं होगा, क्योंकि वह प्रत्यक्ष आदान-प्रदान की किसी अलक्ष्य धुरी पर [illegible]

कर उसका मूल्य निश्चित करता रहता है। ससार के सारे विधान, जीवन के सारे नियम, मनुष्य को, मनुष्य के लिए प्रसन्नतापूर्वक छोटा-सा त्याग करने पर भी वाध्य नही कर सकते, पर वह स्वेच्छा से प्राण तक दे डालता है। अत सामाजिक सम्बन्धो का, इस अत्यन्त व्यावहारिक पक्ष से लेकर एक अति मानवीय दार्शनिक पक्ष तक, विवेचन किया जा सकता है। दूसरे व्यक्ति की व्यथा से तादात्म्य ही हमें उसकी दुखद स्थिति मे परिवर्तन लाने की प्रेरणा देता है, पर उस तादात्म्य की सीमा हमारे मानसिक सस्कार की सापेक्ष्य है। इस प्रकार मानवीय सम्बन्धो में सामजस्य की स्थिति सयोग-साध्य ही रहती है।

दोष किसका

यदि किसी ऐसे सम्बन्ध की कल्पना की जावे जो एक व्यक्ति से दूसरे को दूर रखते हुए भी उन्हें निकट से निकट पहुँचाने में समर्थ हो, व्यक्तित्व के आकर्षण के बिना भी उनमें सहानुभूति और स्नेह की सृष्टि कर सके तथा अन्य लौकिक सम्बन्धों के अभाव में भी उन्हें बौद्धिक और साहित्यिक बन्धन में बाँध सके, तो सब से प्रथम हमारा ध्यान सम्पादक तथा उसके बृहत् लेखक और पाठक परिवार की ओर जायगा। एक ओर ऐसा व्यक्ति है, जो अपने एक मस्तिष्क के विचारों को अनेक मस्तिष्कों तक पहुँचा देने का इच्छुक है, अपने एक हृदय की पुकार को अनेक हृदयों में प्रतिध्वनित कर देने के लिए आकुल है। दूसरी ओर ऐसा मानव समुदाय है, जो प्रत्येक समस्या का समाधान करने से पहले उन पर दूसरों के विचार जान लेना चाहता है, अपनी सोती हुई प्रेरणा को जगाने के लिए, छिपे भावों को स्पष्ट करने के लिए तथा किसी भी विशेष दिशा में अग्रसर होने के लिए औरों से सहायता और संकेत की अपेक्षा करता रहता है।

सम्पादक इन दोनों के बीच का सूत्र है, परन्तु ऐसा, जो एक के विचारों तथा उद्गारों का सत्य और अन्य व्यक्तियों के मस्तिष्क तथा हृदय पर उनके अच्छे या बुरे प्रभाव का निर्णय करता है।

वह न देने योग्य अपथ्य के विष को अपने ही तक सीमित रख कर देने योग्य पेय को सुन्दर से सुन्दर पात्र में अन्य व्यक्तियो को समर्पित करता है। वास्तव में वह अपने बृहत् परिवार का ऐसा बडा बूढा है, जो परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से अपना स्नेह और अपनी सहानुभति बाँटता है, परन्तु किसी को भी उनका दुरुपयोग नही करने देता। सुन्दर भविप्य के सन्देश-वाहक छोटे से अकुर की प्राण के समान रक्षा करने वाले तथा वडी से वडी, उच्छृङ्खल और उपवन के सौन्दर्य को घटा देने वाली शाखा को काट देने वाले माली के मोह और विराग के समान ही उसका प्रेम और उसकी कठोरता है। किसी भी अवस्था मे उसकी दृष्टि अपने केन्द्र-बिन्दु लोक-कल्याण से नही विचलित होती।

उसके उत्तरदायित्व को देखते हुए यह समझना सहज हो जाता है कि यह कार्य किसी दुर्वल, साहसहीन तथा समय के प्रवाह में प्रत्येक लहर के साथ वह जाने वाले या किनारे पर बैठ कर उन्हे गिनते रहने वाले व्यक्ति का नही है, वरन् उस साहसी का है, जो प्रवाह में उतर कर भी स्थिर रहकर उसकी गहराई की थाह ले सके तथा अन्य वहने वालो को सहारा दे सके।

केवल सगृहीत कर देने के अर्थ मे सम्पादक का प्रयोग चाहे पुराना हो, परन्तु इस हलचल से भरे युग में उसकी परिभापा विशेप रुप से नवीन है। इस समय हमें यह आवश्यकता नही कि हमारे सम्पादक महाभारत जैसे महाकाव्य को सम्पादित करने के भगीरथ प्रयास मे लग जावे, परन्तु यह उनके कर्त्तव्य

की पूर्ति के लिए अनिवार्य है कि वे उन भावनाओं और विचारों को सर्वसाधारण तक पहुँचा सकें, जो सुन्दर भविष्य के अनुकूल हो सकते हैं तथा उन कारणों को मिटाने का प्रयत्न करें जिनसे प्रगति में बाधा पड़ती है।

हिन्दी पत्रों की संख्या के अनुसार उनके सम्पादकों की संख्या भी न्यून नहीं, जिसमें पुराने-नये, अनुभवी-अनुभवहीन, शिक्षित-अर्धशिक्षित, उत्तरदायित्ववान-उत्तरदायित्वहीन, सभी प्रकार के व्यक्ति मिल जाते हैं। प्रायः लोगों की यह धारणा देखी जाती है कि इनमें अधिक संख्या अनधिकारियों की या ऐसे व्यक्तियों की है, जो किसी भी कार्य के उपयुक्त न होने के कारण इसी क्षेत्र में आ गये हैं। इसे सुन कर हम अप्रसन्न हो सकते हैं, परन्तु केवल हमारा अप्रसन्न हो जाना ही तो इस कथन को असत्य नहीं प्रमाणित कर सकता। यदि विचार किया जाय, तो इस धारणा में सत्य का नितान्त अभाव न जान पड़ेगा।

हम प्रत्येक क्षेत्र में छोटे से छोटे कार्य के लिए भी कर्त्ता में उन गुणों को पहले देख लेते हैं, जिनसे वह कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकता है, परन्तु आश्चर्य का विषय है कि सम्पादन ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए उपयुक्त पात्रता जाँचने की हमारे पास कोई कसौटी नहीं। हिन्दी में कुछ उत्तेजनापूर्ण लिख-पढ़ लेने के अतिरिक्त सफल सम्पादक होने के लिए और भी विशेष गुण की आवश्यकता हो सकती है, इस ओर हमारा प्रायः ध्यान नहीं जाता। अतः यदि कुछ ऐसे व्यक्ति इस क्षेत्र में प्रवेश पा गये हैं, जिनके दुर्बल कन्धे इस गुरु भार को सँभाल नहीं सकते,

तो आश्चर्य की बात नही। आश्चर्य तो तब होता है, जब ऐसी अवस्था मे भी हम अपने यहाँ सुयोग्य सम्पादको का नितान्त अभाव नही पाते।

प्रत्येक दुरवस्था के समान इसके भी कारण है। प्रथम तो इसका उत्तरदायित्व हमारे प्रतिकूल वातावरण और कठोर परिस्थितियो पर है, जो हमे अपने भावी जीवन के लिए उद्देश्य या लक्ष्य स्थिर करने का अवकाश ही नही देती और यदि हम किसी प्रकार ऐसा करने में समर्थ हो गये तो उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमे साहस और शक्ति एकत्र करने की सुविधाएँ तथा साधन नही मिलते।

हमारे जीवन मे बेकारी तथा उससे सम्भूत दरिद्रता ने ऐसा डेरा डाल रखा है कि उससे छुटकारा पाने के लिए किसी कार्य को स्वीकार करते समय अपनी पात्रता अपात्रता पर विचार करना कठिन ही नही, असम्भव हो उठता है। इसके अतिरिक्त अधिकाश पत्र, व्यवसायी-समुदाय के हाथ मे है, जिनके लिए लोक कल्याण की चिन्ता उतनी स्वाभाविक नही है, जितनी अपने व्यवसाय सम्बन्धी हानि लाभ की। अतएव उन्हें सिद्धान्तवादी योग्य व्यक्तियो से अधिक उनकी आवश्यकता होती है, जिनके द्वारा जनसाधारण का सस्ता मनोरजन हो सके। यहाँ तक तो परिस्थितियो का दोष कहा जा सकता है, जिन पर मनुष्य कभी विजय पा लेता है और कभी नही। यदि पा लेता है तो परिस्थितियाँ उसकी इच्छानुसार अपने आपको बदल लेती हैं और यदि नहीं पाता, तो उसे अपने आपको परिस्थितियो के अनुकूल बनाना

पड़ता है। आवश्यकता के अनुसार कोई मनुष्य चाहे मोची का काम करने पर बाध्य हो चाहे न्यायाधीश का उसे दोष देना अनुचित होगा, परन्तु दोषी वह तब ठहराया जा सकता है, जब न वह मोची का कार्य ठीक-ठीक करने का प्रयास करे न न्यायाधीश का। परिस्थितियाँ हमें अप्रिय कर्तव्य स्वीकार करने पर अवश्य ही बाध्य कर सकती हैं परन्तु उनमें इतनी शक्ति नहीं कि वे हमें सच्चाई और मनोयोग के साथ उस कर्तव्य के पालन से रोक सकें।

कोई केवल सम्पादक के आसन पर आसीन होकर ही अपने कर्तव्य की पूर्ति नहीं कर लेता, जैसे नश्तर हाथ में आ जाने से ही कोई डाक्टर नहीं हो जाता। रोगी के एक-एक स्वस्थ रोम से ममता तथा केवल दूषित अंग को दूर करने की क्षमता ही चिकित्सक को चिकित्सक कहलाने का अधिकार देती है। इसी प्रकार समाज के स्वस्थ विकास की ओर प्रयत्नशील तथा उस विकास की गति को रुद्ध कर देने वाली बाधाओं को दूर करने में तत्पर व्यक्ति ही सम्पादक का उत्तरदायित्व वहन करने की शक्ति रखता है। प्रत्येक कर्तव्य के समान उस गुरु कार्य में भी कर्ता के हृदय तथा मस्तिष्क दोनों को परिष्कृत और विकसित होना चाहिए, क्योंकि संकीर्णता कर्ता और कर्तव्य के लिए सब से बड़ा अभिशाप सिद्ध होती है। एक ओर उसमें इतनी सहानुभूति, इतनी उदारता की आवश्यकता है जिससे वह किसी भी दुर्बलता को उपहास के योग्य न समझे और दूसरी ओर इतना ज्ञान कि उसका निदान तथा दूर करने के उपाय जान सके।

इस प्रकार अक्षय सहानुभूति द्वारा अपने विस्तृत परिवार का आत्मीय वनने के उपरान्त वह बहुत ही सरलतापूर्वक दूसरो के स्वस्थ मानसिक विकास मे सहायता दे सकता है, जो उसके कर्त्तव्य का मुख्य लक्ष्य तथा दृष्टि का केन्द्र-बिन्दु कहा जा सकता है।

सकीर्ण हृदय की सकुचित दृष्टि केवल अपने अधिकार तथा उनसे होने वाले व्यक्तिगत हानिलाभ तक ही परिमित रह सकती है और सकीर्ण विचारो वाला अदूरदर्शी अपनी उलझी धारणाओ से दूसरो की समस्या को और भी जटिल बना देता है।

सम्पादक विशेष राजनीतिक, साहित्यिक तथा सामाजिक परिस्थितियो मे काम करता है, अत यह प्रश्न कि उसे इनसे सबध रखने वाले प्रत्येक विषय का वैसा ही ज्ञान होना चाहिए या नही, जैसा उन विषयो के विशेषज्ञो को होता है, कुछ कम महत्त्व नही रखता। प्रत्येक वस्तु का व्यावहारिक ज्ञान उसके विज्ञान अश से भिन्न किया जा सकता है, यह हम जानते है। यदि ऐसा न होता, तो साधारण व्यक्ति बिना विशेषज्ञ हुए कोई कार्य ही न कर सकता। फिर जब एक ही विषय की विशेषज्ञता मे जीवन वीत सकता है, तव एक ही जीवन में अनेक विषयो का विशेषज्ञ होना सम्भव भी नही। जल, पवन, वनस्पति आदि के उपयोग तथा उनके गुण या अवगुणो का ज्ञान सब के लिए आवश्यक है, परन्तु वे किन उपकरणो से वने है, उन उपकरणो को कैसे भिन्न किया जा सकता है आदि की विवेचना और खोज उन विपयो से अनुराग रखनेवाले विज्ञानाचार्यों के लिए सुरक्षित रहती है।

साहित्यिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियां परस्पर अन्योन्याश्रित हैं, क्योंकि साहित्य, समाज तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं को प्रभावित करता रहता है और वे साहित्य में अपने आपको प्रतिबिम्बित करती रहती हैं। अतएव सम्पादक राजनीति, इतिहास, समाजशास्त्र आदि का विशेषज्ञ चाहे न हो; परन्तु उसका इन विषयों के व्यावहारिक रूप से अनभिज्ञ होना अनुचित ही नहीं, हानिकर भी होगा। समाजशास्त्र या अर्थशास्त्र के किसी सिद्धान्त विशेष की खोज उसका ध्येय न होने पर भी, उनका विकास क्रम और उनके द्वारा समाज विशेष में परिवर्तन, उसके ज्ञातव्य रहेंगे।

साहित्य में भी कोई विशेष विस्मृत घटना खोज निकालना या ऐसा ही अन्य कार्य चाहे उसका लक्ष्य न हो, परन्तु साहित्य की जीवनदायिनी शक्ति, उसका युगान्तरगामी प्रभाव तथा भविष्य के निर्माण में उसकी उपयोगिता आदि के विषय में न जानना उसकी अदूरदर्शिता ही होगी।

कहा जाता है कि शिक्षक का आसन उसी के लिए है जो निरन्तर विद्यार्थी बना रह सके। सम्पादक के लिए भी यह सत्य है। उसका कर्तव्य इतना गुरु है, उसका लक्ष्य इतना ऊंचा है तथा उसके साधन इतने अपूर्ण हैं कि जीवन भर जिज्ञासु विद्यार्थी बने बिना वह न किसी को कुछ दे सकता है और न अपने लक्ष्य तक पहुंच सकता है। हमारे वर्तमान सम्पादक-परिवार में कोई ही व्यक्ति ऐसे होंगे जो मित्रों की प्रशंसा, अमित्रों की निन्दा और विरोधियों पर अशिष्ट आक्षेप-वर्षा से कुछ समय

निकाल कर अपने कर्त्तव्य के अनुरूप अध्ययन मे उसे व्यतीत करते हो।

ससार के महान् से महान् परिवर्तन के, बडी से बडी क्रान्ति के तथा भयावह से भयावह उथल-पुथल के सन्मुख भी उन्हे व्यक्तिगत कलह और आक्षेपो मे उलझा देख कर किसे आश्चर्य न होगा। उनके इस स्वभाव मे लोग इतने अधिक परिचित हो उठे हैं कि कितने ही सम्भ्रान्त व्यक्ति, अपनी यह धारणा भी व्यक्त करते हुए सकोच का अनुभव नही करते कि जो व्यक्ति सभा मे अशिष्ट, मित्रो मे अनुदार तथा असहनशील और व्यवहार मे कलहप्रिय हो, उसे हिन्दी का साहित्यकार या सम्पादक समझना चाहिए। यह सम्मान क्या निकृष्ट से निकृष्ट लेखक या सम्पादक को भी शोभा देगा! परन्तु तब तक इसका उत्तर ही क्या दिया जा सकता है, जब तक हमारा प्रत्येक कार्य उनके कथन का प्रमाण बनता जा रहा है, और हमारे जीवन का प्रत्येक दिन हमे आगे बढाने की अपेक्षा पीछे लौटा रहा है।

इसमे सन्देह नही कि सम्पादको के मार्ग मे ऐसी बाधाएँ हैं, जो उनके विकास को चारो ओर से घेरे रखना चाहती हैं, परन्तु यदि उनमे साहस और आत्म-सम्मान हो, सगठित शक्ति हो, ससार को अपनी आवश्यकता का अनुभव करा देने योग्य दृढता हो, तो बाधाएँ उनकी गति की बेडियाँ नही बन सकती, व्यवसायी जगत् उन्हे कठपुतली का नाच सिखाने का साहस नही कर सकता और प्रतिकूल परिस्थितियाँ उन्हे

मोम के खिलौनों की तरह गला-गला कर नये नये रूप रंगों में नहीं ढाल सकती।

व्यक्तिगत दुर्बलताओं, व्यावसायिक परिस्थितियों के अतिरिक्त सम्पादकीय जीवन को विषाक्त बना देने का कारण लेखकों और सम्पादकों में विश्वास तथा सद्भावना की कमी भी है। सम्भव है, इस विषय में कोई एक पक्ष अधिक या कम दोषी हो, परन्तु दोष दोनों ओर है इसमें सन्देह नहीं। हमारा आधुनिक लेखक अपने प्रथम प्रयास को सम्पादक द्वारा तुरन्त ही अनन्त ख्यातियों तक पहुँचा देने को आकुल हो उठता है। वह किसी प्रकार भी यह विश्वास करना नहीं चाहता कि संसार की दृष्टि में उसके प्रथम प्रयास का मूल्य कुछ नहीं भी हो सकता है। जीवन का प्रथम प्रयास अस्पष्ट क्रन्दन के अतिरिक्त और क्या होता है! चलने का प्रथम प्रयास लड़खड़ाने और गिरने उठने के अतिरिक्त क्या होता है! फिर लिखने का प्रथम प्रयास ही क्यों इतना पूर्ण, इतना सुन्दर और इतना कल्याणमय समझा जावे कि उसका संसार की दृष्टि से छिपा रहना दुर्भाग्य माना जाय।

प्रत्येक कला के समान साहित्य भी एक साधन है, जिसमें जीवन की सुन्दरतम अभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है, परन्तु यह मान लेना कठिन हो जाता है कि अभिव्यक्ति का प्रथम प्रयास ही उस कसौटी पर खरा उतर सकता है। ऐसे नवीन लेखकों को जब तक अपने सब प्रकार के उद्गारों के विशेष सजधज से, पत्र के किसी कोने में विराजने की आशा रहती है उनके

समान, सम्पादक-स्तोत्रपाठी व्यक्ति ढूँढ निकालना कठिन हो जाता है। परन्तु, इस आशा के नष्ट होतेही उनके निकट सम्पादक का रूप उसी प्रकार परिवर्तित हो जाता है, जैसे स्वर्णमृग क्षण भर मे मारीच हो गया था। व्यक्तिगत रूप से जिन कटु सम्मतियो के लिए वे कृतज्ञ होते हैं, वे ही सम्पादक से सम्बद्ध होकर पक्षपात से विषैली जान पडने लगती है। यह सत्य है कि अनेक सम्पादक भी नवीन लेखको के साथ न विशेष सहानुभूति रखते है और न उनकी रचनाओ की ओर आवश्यक ध्यान ही देते हैं, परन्तु प्राय इस व्यवहार का कारण निस्सार रचनाओ की अधिकता भी होती है।

जो व्यक्ति नित्य २० लेखो मे से १५ में कोई सार नही पाता उसकी ऐसी धारणा बन जाना असम्भव तो नही कहा जा सकता, परन्तु हानिकारक अवश्य है। जो व्यक्ति पाँच पक्तियो का पत्र शुद्ध नही लिख सकता, उसका पच्चीस पृ ठ का लेख भेजना अपने प्रति भी अन्याय है और सम्पादक के प्रति भी, क्योकि उसका, साहित्य की आराधना में परिश्रम से जी चुराना, सम्पादक मे भी यही दुर्बलता उत्पन्न कर देता है।

आधुनिक युग में अपने व्यक्तिगत जीवन मे मनुष्य जितना परतन्त्र है, उससे दस गुना अधिक सम्पादकीय जीवन में है। वह, पत्र की नीति, पाठको की रुचि, अपनी आवश्यकता, सचालको के व्यावसायिक दृष्टिकोण आदि से इस प्रकार ढक जाता है कि हम कठिनाई से वाह्य आवरण को भेद कर उसके व्यक्तित्व तक पहुँच पाते है। यदि उसमे अपने उत्तरदायित्व

के अनुसार ढलना, साहस तथा आत्मविश्वास होता, तो सम्भव है यह परिस्थितियां बदल जाती, परन्तु दुर्भाग्य से उसकी दुर्बलता ही अन्य गुणों के रिक्त स्थानों को भरती रहती है।

लब्धप्रतिष्ठ लेखकों से भी उसका ऐसा सम्बन्ध नहीं जो स्पृहणीय समझा जा सके। जिनको उसकी सहायता की आवश्यकता है उनकी वह अवहेलना करता है और जिनकी उसे आवश्यकता है वे उसकी उपेक्षा करते हैं। नवीन लेखकों से जैसा अनुनय-विनय उसे प्राप्त होता है, वैसा ही उसे प्रख्यात लेखकों को देना पड़ता है, अतः उनके संबंध में किसी प्रकार की आत्मीयता और सहानुभूति उत्पन्न ही नहीं हो पाती। यह तो प्रत्येक निष्पक्ष व्यक्ति स्वीकार कर लेगा कि हमारे लेखकों के पास शुद्ध साहित्यिक जीवन व्यतीत करने के साधन कम हैं और असुविधाएं असंख्य हैं। पत्र, पत्रिका आदि अपनी वृद्धि के लिए उनकी सहायता तथा सहयोग अवश्य चाहते हैं, परन्तु उन्हें अपने विकास के लिए किसी प्रकार की सहायता या सुविधा देना अपना कर्त्तव्य नहीं समझते। कितने ही लेखक हमारे साहित्य के लिए अमूल्य निधि सिद्ध होते, यदि आर्थिक कठिनाइयों ने उनका मार्ग रुद्ध न कर दिया होता।

परन्तु इस दशा का उत्तरदायित्व केवल सम्पादक पर न डाल देना चाहिए, क्योंकि वह तो स्वयं ही अपनी असुविधाओं से परास्त हो चुका है। यदि सम्पादकों में अपने गुरु भार को वहन करने की क्षमता उत्पन्न हो सके, उनमें तथा लेखकों में सहानुभूति तथा विश्वासपूर्ण अटूट सम्बन्ध स्थापित हो सके और उनकी

शक्ति सगठित हो सके, तो हमारी अधिकाश आपत्तियाँ दूर हो जावें। यदि हम अपनी ही दुर्बलता से आगे नही बढ सकते हैं, अपनी ही अदूरदर्शिता से भविष्य के सकेत को नही देख पाते है, अपने ही स्वार्थप्रिय स्वभाव से सहयोगियो को साथ नही ले रहे है और आप ही अपने शत्रु हो रहे है तो किसी अन्य को अपनी आपत्तियो का कारण समझ लेना एक और दुर्बलता को आत्मसात् कर लेना होगा।

हम क्या करें और कैसे करें, इस पर विचार करने का समय पीछे आता है, पहले अपने अभाव का तथा उस अभाव को दूर करने के साधन का स्पष्ट बोध तो होना चाहिए।

जो देश की एक बडी सख्या के मस्तिष्क के लिए भोजन प्रस्तुत करते है, उनका अज्ञान और उनकी भ्रान्ति देख कर किसे विस्मय न होगा। पिंजरबद्ध मूषक को देख कर ससार को इतना कौतूहल नही होता, जितना पिंजरबद्ध सिंह को देख कर होता है।

हम स्वय ही अपनी उन परिस्थितियो का निर्माण कर लेते है, जो आगे चल कर हमारे भावी जीवन को ढालती है। अत अपनी दुर्दशा के कारण भी हमी है।

सुई दो रानी, डोरा दो रानी

मार्ग में निरन्तर 'सुई दो रानी, डोरा दो रानी' इत्यादि सुनते-सुनते बदरीनाथ के निकट पहुँचने तक मुझे यह विश्वास हो चला था कि इस सुदूर पर्वत प्रान्त में न तो रानी होने से अधिक कोई सहज काम है और न सुई से अधिक कोई महत्त्वपूर्ण देने योग्य वस्तु।

मलिन भूरे बाल वाले बालक, लाल मूंगों की मालाओं से अपने को सजाये हुए, चकित दृष्टि वाली युवतियां तथा वात्सल्य से भरी हुई वृद्धाएं और जहां-तहां जाते हुए निश्चिन्त निरीह से पुरुष सब की एक ही धुन थी। यहां तक कि वे स्थान भी, जहां शीत की अधिकता के कारण स्त्रियां और पुरुष कम्बल के दोनों छोरों को कन्धे पर चांदी या किसी और धातु के कांटे से अटका कर केवल उसी को अपना परिधान बनाये थे, इस राग से मुखरित हो रहे थे। कई बार तो छोटे छोटे बालकों ने इस प्रकार घेर लिया कि अपना सारा सुई डोरा फेंक कर हमें भागना पड़ा।

कई पहाड़ी सम्भ्रान्त व्यक्तियों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि इस विचित्र भिक्षा वृत्ति का कारण सुई का अभाव नहीं है। अब तो सब आवश्यक वस्तुएँ भेड़ों के द्वारा बदरीनाथ तक पहुँचाने का समुचित प्रबन्ध हो गया है, परन्तु यह प्रथा उस

समय से सम्बन्ध रखती है जब यात्रियो के अतिरिक्त ऐसी वस्तुएँ पहुँचाने का और कोई साधन न था।

उस समय विचार आया कि हमारे परम्परागत सस्कारों का मिटना कितना कठिन है। माँगना छोडना तो दूर की बात, उनके हृदय मे कुछ और माँगने की इच्छा ही नही उत्पन्न होती। प्रत्येक व्यक्ति केवल हज़ार पाँच सौ सुइयो के सग्रह का स्वप्न देखता रहता है।

किसी वस्तु के प्राप्त कर लेने की इच्छा में जो मधुरता है वह उस इच्छा की पूर्ति मे नही, इसका अनुभव मुझे बदरीनाथ के, धूप मे पारे के समान झिलमिलाते हुए हिम-मय शिखरो के निकट पहुँच कर हुआ।

हनुमान चट्टी से पाँच छ मील की जो दुर्गम और विकट चढाई आरम्भ हुई थी, उसका अन्त एक ओर नर और दूसरी ओर नारायण नाम के पर्वतो तथा उनकी असख्य श्रेणियो से घिरी हुई समतल भूमि मे हुआ। श्वेत कमल की पँखुरियो के समान लगने वाले पर्वतो के बीच में निरन्तर कल कल नादिनी अलकनन्दा के तीर पर बसी हुई वह पुरी, हिमालय के हृदय में छिपी हुई इच्छा के समान जान पडी। वृक्ष, फूल और पत्तो का कही चिन्ह भी नही था। जहाँ तक दृष्टि जाती थी निस्पन्द समाधि में मग्न तपस्विनी जैसी आडम्बरहीन सूनी पृथ्वी ही दिखाई देती थी। और उनने ही निश्चल तथा उज्ज्वल हिमालय के शिखर ऐसे लगते थे, मानो किसी शरद् पूर्णिमा की रात्रि में पहरा देते-देते, चाँदनी समेत जम कर जड हो गये हो।

बदरीनाथ से एक मील बाहर वहाँ के वयोवृद्ध संत नारायणदत्तजी ने फूलों से सजा हुआ एक सुन्दर बंगला बनवा रखा है, जिसमें कभी-कभी कोई भाग्यशाली व्यक्ति ठहर जाता है; परन्तु प्रायः उसकी दीवारों को पथिकों का दर्शन दुर्लभ रहता है। यहाँ तीर्थ यात्री तो पण्डे के संकीर्ण घर में भेड़ बकरियों की तरह भरे रहने में ही पुण्य की प्राप्ति समझते हैं।

नारायणजी ऐसे विदेह गृहस्थ हैं जो अपनी साधना का फल औरों को समर्पण कर देने में ही सिद्धि समझते हैं। बदरीनाथ जैसे स्थान में उन्होंने बाग लगाया है, फलों के पेड़ लगाये हैं, आलू की खेती आरम्भ की है और न जाने कितने उपयोगी कार्य किये हैं। उनको वृद्धावस्था में भी दिन-दिन भर धूप में उन्हें काम करते और कराते देख कर हमें बड़ा विस्मय हुआ।

फूलों के निकट रहने की इच्छा से, एकान्त के आकर्षण से और अपने स्वभाव के कारण मैंने वहीं ठहरने का निश्चय किया, परन्तु हमारे सहयात्रियों में जो एक दो सच्चे तीर्थयात्री थे, वे उसी समय अपने पण्डे का आतिथ्य स्वीकार करने चले गये। पण्डाजी हमें भी बुलाने आये और उनकी नम्रता और उदार शील देख कर मेरा पण्डों के प्रति उपेक्षा भाव तो दूर हो गया परन्तु यह स्थान इतना रमणीक था कि इसे छोड़ने की कल्पना भी अच्छी नहीं लगी।

यहीं रुपये सेर दूध, रुपये सेर आटा और एक आने की एक छोटी लकड़ी के हिसाब से लकड़ियाँ मँगा कर भोजन की व्यवस्था

की गई। कदाचित् इस महँगेपन के कारण ही बदरीनाथ मे यात्रियो के स्वय भोजन न बना कर पडे के यहाँ या बाजार मे भोजन का प्रबन्ध करने की प्रथा है। इस प्रथा का अनुकरण करने के कारण पुरी मे ठहरने वाले हमारे साथी इतने अस्वस्थ हो गये कि दूसरे ही दिन उन्हे उसे छोड देना पडा।

उस दिन तीसरे पहर तक उन रुपहले शिखरो को मन भर कर देखने के उपरान्त अलकनन्दा का छोटा-सा पुल पार कर के हम सब पुरी देखने निकले, परन्तु देख कर केवल निराशा हुई। सकीर्ण गलियाँ और घर दुर्गन्धपूर्ण और गन्दे थे। देख कर सोचा कि जब हम इतने बडे तीर्थ स्थान को भी स्वच्छ और सुन्दर नही रख सकते, तब किसी और स्थान को स्वच्छ रखने की आशा तो दुराशा मात्र है। उत्तुग स्वर्ग के चरणो से ही नरक की अतल गहराई बँधी है, इसका प्रमाण ऐसे ही स्थानो में मिल सकता है जहाँ पुण्य-पाप, पवित्रता-मलिनता और करुणा-क्रूरता के एक दूसरे मे जीने वाले द्वन्द्व प्रत्यक्ष आ जाते हैं।

असख्य गण्यमान्य और नगण्य, धनी और दरिद्र, शक्ति-सम्पन्न और दुर्बल, सपरिजन और एकाकी यात्री वहाँ प्रतिवर्ष जाते-आते है। धनिको के सारे अभाव तो उनका धन दूर कर देता है, परन्तु दरिद्रो के लिए न रहने का अच्छा प्रबन्ध है न भोजन का। फलत अधिकाश यात्री रोगी होकर लौटते है और कुछ मार्ग में ही परमधाम चल देते है।

उस दिन हम लोग दो मील दूर उस मन्दिर को देखने गये, जो द्रौपदी के गलने के स्थान पर उसकी स्मृति मे बनाया गया है।

यहां से थोड़ी ही दूर पर दो पर्वतों के बीच से निकलती हुई वसुधारा की पतली धार दिखाई दी जो दूर से बादलों से छन कर आती हुई किरणों की तरह जान पड़ती थी। इसी के पास व्यास गुफा और तिब्बत जाने का मार्ग है और यहीं तिब्बती लोगों के एक ग्राम का भग्नावशेष है, जिसमें अब भी कुछ लोग आते-जाते दृष्टिगोचर हो जाते हैं।

बदरीनाथ पुरी में देखने योग्य वस्तुओं में मन्दिर और अलका-नन्दा के बीच में एक बहुत उष्ण जल का और एक ठंडे जल का सोता है। वहीं एक कुंड बना दिया गया है जिसमें दोनों सोतों का जल मिला कर यात्रियों को स्नान कराया जाता है। सम्भव है यही तप्त कुण्ड इस स्थान की प्रसिद्धि का कारण हो।

मन्दिर अपनी प्रसिद्धि के अनुरूप नहीं है और भीतर द्वारों पर कटघरे-से लगा कर मानो भगवान् को भी बन्धन में डाल दिया है। द्वारपाल उन्हीं को सरलता से प्रवेश करने देते हैं, जो वेशभूषा से सम्भ्रान्त व्यक्ति जान पड़ते हैं। और मलिन वेश वाले व्यक्ति, घंटों सतृष्ण दृष्टि से उन जाने-आने वालों को देखते रहते हैं। भीतर जा कर लाल पगड़ी वाले सिपाहियों को अन्तर्द्वार की रक्षा करते देख कर हमारे विस्मय की सीमा नहीं रही। वे भी वस्त्रों को आदर की दृष्टि से देखते थे और दीन स्त्री पुरुषों को हाथ पकड़-पकड़ कर रोक देते थे। उस द्वार को भी पार कर कर नारायण की एक प्रतिमा देखी, जिस पर न स्वर्ण था न शृंगार, न कभी कुछ होने की आशा ही थी। केवल उनके पुजारी की आंखें हर्ष से नाच रही थीं, वे दोनों हाथों से चढ़ावे के भार से [illegible] की

राशि बटोर रहे थे। भगवान् के लिए नही, परन्तु उनके पुजारी की प्रसन्नता के लिए मैंने भी रजत खड चढा कर विषण्ण मुख से विदा ली।

दूसरे दिन हमने निकटवर्ती चाँदी के पहाड पर चढना आरम्भ किया, जिसमे बडा आनन्द आया। कही-कही बर्फ जम कर ऐसी हो गई थी कि सगमरमर का भ्रम हो जाता था। न वह गलता था और न कुछ विशेष ठढा लगता था। उससे ठढा तो अलकनन्दा का जल था, जिसमे हाथ डालते ही उँगलियाँ ऐंठ जाती थी। हवा में कुछ विशेष सर्दी नही मालूम हुई। मुझे तो गर्म कपडे भी नही पहनने पडे। जहाँ बर्फ पिघल रही थी, वहाँ से खोद कर कुछ वर्फ खाई और कुछ के गोले बना कर लाये।

तीसरे दिन प्रस्थान के समय फिर मन्दिर में जा कर फूलो की माला न मिलने के कारण जगली तुलसी के पत्तो की माला चढा कर विदा हुए। पडाजी सुफल बोलने के लिए उत्सुक थे, परन्तु मुझ से यह सुन कर कि मेरी यात्रा की सफलता मेरे मन पर निर्भर है, मौन हो रहे। उन्होने मुझे प्रसाद दिया और मैंने उनके आतिथ्य के बदले मे कुछ उन्हे अर्पण किया। केवल उनसे स्वर्ग के लिए प्रवेश-पत्र लेना मुझे स्वीकार नही था। बगले में लौट कर कैमरे का कुछ दुरुपयोग स ुपयोग किया। फिर नारायण-दत्तजी से मिल कर उनके आतिथ्य के बदले मे कुछ भेट देनी चाही। परन्तु उन्हें तो भगवान् के मन्दिर में रहने का सौभाग्य प्राप्त नही था, जो लक्ष्मी की चरण सेवा करना जानते। वे हमारी श्रद्धाजलि से ही सतुष्ट हो गये।

बदरीनाथ हमारा ऐतिहासिक तीर्थ स्थान है, परन्तु असंख्य यात्रियों में से दो-चार ने भी कभी उसकी दुर्व्यवस्था के कारणों पर विचार किया होगा ऐसा विश्वास नहीं होता। धाम गला है, मन्दिर टूटा जा रहा है और तप्त कुंड की ओर अलकनन्दा की धारा बढ़ती आ रही है। सम्भव है, किसी दिन यह पवित्र और ऐतिहासिक नगरी केवल पुरातत्त्ववेत्ताओं की खोज का विषय रह जावे।

अभिनय कला

हमारे प्राचीन समाज में अभिनय कला का कितना महत्त्वपूर्ण विकास हुआ, यह नाटक के रूपकादि २८ प्रकारो तथा नाटच-शास्त्र से प्रकट हो जाता है।

अवश्य ही आज हमे उस समय का अभिनय सम्बन्धी साहित्य कुछ अधिक सकीर्ण बन्धनो मे बँधा जान पडेगा। प्राय सभी नायक-नायिकाओ को एक ही सी रूपरेखा में अवतीर्ण होना पडता था तथा सभी कथानको का सुख में ही अन्त निश्चित था। आधुनिक दृष्टिकोण से चाहे हम इसे एक बडी भारी त्रुटि समझ लें, परन्तु वास्तव में यह त्रुटि नही है। तत्कालीन विचारो की दृष्टि में किसी समाज की प्रारभिक अवस्था बालक की अवस्था से भिन्न नही होती। अत दोनो के ज्ञान प्राप्ति के साधनो मे भी बहुत अधिक समानता रहती है। बालक के मन पर समवयस्क बालको के हंसने, रोने तथा उनके अन्य कार्यों का उतना स्थायी और अनुकरण की प्रेरणा देनेवाला प्रभाव नही पडता, जितना उससे बहुत बडे व्यक्ति के कार्यों और चेष्टाओ का। वह स्वभाव से ही अपने बडे होने का स्वप्न देखना पसन्द करता है, अत अपने से बडे व्यक्तियो के प्रत्येक कार्य का विशेष ध्यान मे देख कर उसका अनुकरण करने की चेष्टा किया करता है। इसी प्रकार

साधारण जनता के चित्त पर विशिष्ट व्यक्तियों के त्याग और बलिदान, सुख और दुःख, सम्पत्ति और विपत्ति का जैसा अनुकरणशील प्रभाव पड़ता है, वैसा अपनी श्रेणी के व्यक्तियों के त्यागों तथा उनके सुख-दुःख का नहीं पड़ता। बालक के अनुकरण का पात्र बड़ा व्यक्ति है तथा सर्वसाधारण के अनुकरण का पात्र विशिष्ट व्यक्ति, जिसके चरित्र का आदर्श सम्मुख रख कर वह अपने जीवन का निर्माण करना चाहता है। समाज में विरागियों की संख्या कम नहीं, परन्तु राजकुमार सिद्धार्थ का विराग ही हमारे अन्तस्तल में अंकित रह जाता है। अनेक साध्वियाँ कष्ट सहती हुई प्राण देती रहती हैं, परन्तु मैथिली जैसी सती की अग्नि-परीक्षा ही हमारे हृदय में दीपक की तरह जलती रह जाती है। हम उसी का अनुकरण करना चाहते हैं, जो हमारा अग्रगामी हो।

सम्भवतः मानव-समाज की इसी दुर्बलता को देख कर प्राचीन काल के कलाविदों ने विशिष्ट व्यक्तियों के आदर्श चरित्रों को अभिनय के लिए चुना। इन चरित्रों के उत्थान पतन, अन्तर्द्वन्द्व तथा भावनाओं से जनता अधिक प्रभावित होती थी। इसके अतिरिक्त अभिनय का आरम्भ भी देव-मन्दिरों में देव देवियों के चरित्र-चित्रण द्वारा हुआ था, फलतः उसमें साधारण चरित्रों को प्रमुखता मिलना अधिक सामाजिक विकास और विस्तृत दृष्टिकोण की अपेक्षा रखता था। वैसे उसमें विदूषक तथा अन्य साधारण चरित्रों का समावेश रहता अवश्य था, परन्तु रंगमंच का नायकत्व किसी विशिष्ट व्यक्ति को मिलना अनिवार्य था। इन

प्रयत्न से नायक-नायिकाओ मे कुछ एकरूपता अवश्य आ गई, परन्तु इससे समाज की उद्देश्य-सिद्धि और कला के विकास में वाधा नहीं पडी।

दु खान्त कथानको के विषय में प्राचीन कलाविदो के विचार हमारे विचारो से भिन्न थे। उनकी दृष्टि मे जो कुछ सुन्दर, सत्य और कल्याणमय था, उसका नाश सम्भव ही नही था। उसे अमरता का चिरन्तन अधिकार था। केवल कुत्सित, कुरूप, असत्य और अमगलकर ही मृत्यु का अधिकारी था। परन्तु कुत्सित असत्य को वे अपने कथानक मे प्रमुख स्थान नही देते थे, अत उसका दु ख या मृत्यु में अन्त असम्भव ही था। जैसे प्रयत्न से वे अपने अभिनय के लिए आदर्श चरित्र चुनते थे, वैसी ही सतर्कता से वे उस चरित्र को नष्ट होने से बचाते थे। आपत्तियो और वाधाओ के आँधी-तूफानो मे लोहा लेना उन्हे अच्छा लगता था, दु ख के अथाह समुद्र को पार कर जाना उनका लक्ष्य था, परन्तु पराजय और वह भी कुत्सित के द्वारा सुन्दर की, असत्य के द्वारा सत्य की, मृत्यु के द्वारा जीवन की पराजय उन्हें असह्य थी। इस तर्क के युग मे हमे चाहे यह इच्छा उपहासास्पद जान पडे, परन्तु जीने के इच्छुक के लिए यह मृत्युजय मन्त्र का प्रभाव रखती है। वास्तव मे यदि मनुष्य को सत्य और सौन्दर्य की अमरता मे विश्वास न हो, तो उनके प्रति उसका आकर्पण भी न रह जावे, इस साधारण सत्य को प्राचीन कलाकारो ने भलीभाँति समझा था। इसी से वन की हरिणियो के साथ खेलनेवाली भोली शकुन्तला, भरी सभा मे राजा पति के द्वारा मिथ्यावादिनी ठहराई

जा कर भी आधुनिक युग की निराश रमणी की तरह न आत्म-हत्या कर सकती है और न प्रतिशोध लेने को पागल हो उठती है। उसका सौन्दर्य, उसकी सरलता, उसका विश्वास और उसका अयाचित प्रेम ऐसे शाश्वत् गुण है, जिनका नष्ट होना तो असम्भव ही नहीं, साथ ही जिनके बिना दुष्यन्त का दर्पपूर्ण पुरुषत्व भी पूर्ण नहीं हो पाता। उसके लिए यदि पृथ्वी पर दुष्यन्त से मिलन सम्भव नहीं, तो वह उससे अन्तरिक्ष में मिलेगी, परन्तु मिलेगी अवश्य। इस दृष्टिकोण से चाहे हम सहमत न हों, परन्तु उसे रस के लिए बाधक सिद्ध करना कठिन होगा। आज तक शकुन्तला से अधिक सुन्दर और सरल चरित्र की सृष्टि हम नहीं कर सके है और भविष्य में कर सकने की सम्भावना भी कम है। शकुन्तला की मृत्यु या उसके चिर वियोग से नाटक चाहे दुःखान्त होता चाहे नहीं, परन्तु सौन्दर्य और सत्य में हमारे विश्वास की अवश्य ही दुःखमय मृत्यु हो जाती।

वास्तव में करुण रस का परिपाक अन्त पर निर्भर भी नहीं रहता। कितने ही दुःखान्त कथानक ऐसे है, जिनके अन्त हमें प्रसन्न कर देते है खिन्न नहीं, और कितने ही सुखान्त ऐसे है जिनके अन्त में हम जीवन पर मंडराती हुई विषाद की छाया देख कर अस्थिर हो उठते है। भवभूति के उत्तर रामचरित का अन्त हमें उतना करुणा से आर्द्र नहीं करता, जितना राम और सीता का अन्तर्द्वन्द्व। अभिनय में आनन्द या करुणा की प्रधानता दर्शकों के मनोभावों द्वारा आंकी जानी चाहिए, कथा के सुख या दुःखमय अन्त से नहीं। अभिनय यदि हमारे सुख दुःख से संघर्षमय जीवन को

जटिल समस्याओ और मानव हृदय के आजीवन न मिटने वाले अन्तर्द्वन्द्व की दुरूहता को यथार्थ रूप से चित्रित कर सके तो वह सकरुण है, यदि वह सत्य, शिव और सुन्दर की अमरता का ज्ञान करा सके तो वह आनन्दमय है। उस युग की अभिनय-कला का यही मूलमन्त्र था और बहुत समय तक रहा।

वर्तमान काल मे हमे अभिनय-कला का जो परिचय मिला, वह व्यवसायी पारसी थियेटर कम्पनियो के रगमच पर ही मिल सका। यह आश्चर्य का विषय है कि हिन्दी नाटको के आविर्भाव से लेकर अब तक हमारा कोई रगमच नही रहा। व्यक्तिगत रूप से कभी कुछ व्यक्तियो ने मनोविनोद के लिए किसी नाटक का अभिनय कर भी लिया तो उससे किसी स्थायी रगमच की स्थापना नही हो सकी।

फलत हमारा हिन्दी नाटक साहित्य जितनी अध्ययन की वस्तु है, उतनी अभिनय की नही। उसमें अभिनय, अभिनेता तथा दर्शको का उतना ध्यान नही रखा जाता, जितना अध्ययनशील पाठको का। इसी से हमे उनका, पाठ्य पुस्तको की तरह अध्ययन अभिनय से अधिक सुगम जान पडता है। यदि अपना कोई रगमच रहता तो उसकी कठिनाइयो को ध्यान मे रखते हुए हम इस कला के द्वारा अपनी सस्कृति, अपने आदर्श और अपने इतिहास को सर्वसाधारण के हृदयो में जीवित रख सकते थे। जो व्यवसायी थियेटर कम्पनियां जनता की दर्शक रुचि से लाभ उठाने आईं, उन्हे हमारी सस्कृति का, इस कला के महान् सामाजिक लक्ष्य का न ज्ञान था और न उन्हें इसकी आवश्यकता ही जान पडी। जनता

कोई भी खेल देखने के लिए मचले हुए बालक के समान व्यग्र हो रही थी। उसे न अभिनय विषयक कोई ज्ञान था और न उसके सम्मुख रंगमंच की कोई रूपरेखा थी, जिससे वह इन कम्पनियों के अभिनय और मंच की तुलना कर सकती। यदि उसके सम्मुख मंच पर अप्सराएँ उड़ने लगतीं, तो भी उसे कौतुक मिश्रित प्रसन्नता होती और कठपुतलियाँ नाचतीं, तो भी उसने जो देखा उसी की प्रशंसा की और उसके कौतुक प्रिय स्वभाव से लाभ उठा कर यह व्यवसाय बिना सामाजिक या सांस्कृतिक लक्ष्य के, बिना अभिनय कला के ज्ञान के दिनोंदिन वृद्धि पाने लगा।

हमें इन रंगमंचों से अकस्मात् कभी-कभी कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री भी मिलती रही, यह अस्वीकार करना सत्य की उपेक्षा करना होगा; परन्तु अधिकांश में वहाँ सस्ती उत्तेजना बढ़ाने वाले गीत, कामुकता को प्रश्रय देने वाले नृत्य और विकृत प्रभाव डालने वाले चरित्रों का ही प्राधान्य रहा। इन रंगमंचों ने वह लिया, जिसे रासधारी, राधाकृष्ण के बहाने देने का निष्फल प्रयत्न करते थे और इन्होंने वह छीन लिया जिसे रामलीला वाले, सफलता-पूर्वक देते थे। इनके पास साधन थे। चमत्कृत कर देने वाले दृश्य, चकाचौंध कर देने वाला प्रकाश, कौतूहल उत्पन्न कर देने वाली वेश भूषा और अनवरत अभिनेता-अभिनेत्रियों के दल ने विकृति को भी प्रकृति के रूप में दिखाया। परन्तु यदि यह व्यवसायी रंगमंच न होते, तो अभिनय-कला की ओर हमारा ध्यान न जाता।

इसके उपरान्त जो मूक चलचित्रों का युग आया, उसे अभिनय के विकास का विशेष श्रेय मिलना उचित है। इसके

निकट रगमच का स्थान सकोच न हो कर वाणी का सकोच था। उसे सभी प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व तथा परिवर्तनो को केवल मुख के भाव तथा अग की चेष्टाओ से ही प्रकट करना पडता था, अत अभिनय-कला की ओर विशेष ध्यान देना अनिवार्य हो उठा। अवाक् चित्रो को सफलता तो मिली, परन्तु रगमच अपनी वाणी के कारण आकर्षक बना रहा। उसकी सजीवता, उसका सगीत और उसकी रगीनी अनेको व्यक्तियो को अपनी ओर खीचती रही। प्राय उसकी तुलना मे मूक चलचित्र छाया से जान पडते थे।

परन्तु सवाक् चलचित्रो के आविर्भाव के साथ अभिनय-कला का एक ऐसा अभूतपूर्व नवीन युग आरम्भ हुआ है, जिसके उज्ज्वल भविष्य के विपय मे किसी को सन्देह नही होता, यह कहना तो कठिन है, परन्तु यदि इसे केवल व्यवसाय का साधन न बनाया जावे तो अवश्य ही यह हमारी सामाजिक प्रगति मे सहायक रहेगा। इसकी भी अपनी कठिनाइयाँ है। इसमे स्थान का सकोच है। न अभिनेता-अभिनेत्रियो के सामने प्रशसा के लिए उत्सुक, सजीव और जागरूक दर्शक-समूह रहता है और न दर्शको के सम्मुख भावतन्मय जीवित-जागृत अभिनेता-अभिनेत्री। इस छाया-काया के सम्मेलन को कला का चरमोत्कर्ष ही सजीव बना सकता है। उसकी अनुपस्थिति मे यह जीवित जन-समूह के सामने चित्रमय जगत् मात्र रह जाता है। अभिनेताओ की कठिनाइयाँ भी कम नही। हमारे सत्य सुख-दु ख भी दूसरो को प्रभावित करने पर अधिक सत्य जान पडते

है। तब फिर अभिनीत सुख दुःखों को दूसरों के सहयोग की कितनी अपेक्षा रहती होगी, इसकी कल्पना कठिन नहीं। जहाँ प्रत्येक भाव की प्रतिध्वनि बनने के लिए उत्सुक हृदय नहीं, वहाँ कुछ निश्चित क्षणों में किसी विशेष भाव को उसकी चरम सीमा तक पहुँचा देना सहज नहीं हो सकता। इस कार्य के लिए जिस कला की आवश्यकता होती है, वह निरन्तर साधना और मानव-स्वभाव के विस्तृत अध्ययन पर जितनी निर्भर है उतनी किसी बाह्य उपकरण पर नहीं।

सवाक् चित्रों से रंगमंच केवल इसलिए पराजित नहीं हुआ कि उसके मार्ग में कठिनाइयाँ अधिक थीं, वरन् इसलिए कि उसकी कला परिष्कृत रूप तक पहुँच ही नहीं पाई थी। वाक्पट रंगमंच को भुला देने के सभी उपकरण लेकर आया और जनता ने नवीन और प्राचीन की तुलना में नवीन को ही अधिक आकर्षक पाया। शक्ति का प्रयोग लाभ के लिए जितनी सुगमता से हो सकता है, हानि के लिए उससे भी अधिक सुगमता से किया जा सकता है। प्राय शक्ति की मात्रा हानि की मात्रा से नापी तोली जाती है, लाभ की मात्रा से नहीं। इसी से प्राय सवाक् चित्र, रंगमंच से अधिक उत्तेजक सामग्री दे कर जनता की विकृत रुचि को और विकृत बना कर अपनी शक्ति का परिचय देने का लोभ न रोक सके।

इसके साथ व्यवसाय का प्रश्न भी था। जनसाधारण को उसकी रुचि के विरुद्ध कुछ देना हठी बालक को बहलाने के समान कठिन है। वह सुन्दर से सुन्दर वस्तु को फेंक कर उसी को

लेना चाहेगा जिसके लिए उसने हठ ठाना हो। वाक्पट, रगमच के स्थान सकोच और मूकपट के वाणी सकोच से रहित और इन दोनो की विशेषताओ से युक्त होने के कारण सामाजिक विकास और जनता की रुचि को परिष्कृत करने में जितना समर्थ है, उसे विकृत करने मे भी उतना ही क्षम है। उसमे कला का विकास भी सम्भव है और ह्रास भी। केवल व्यावसायिक दृष्टिकोण से देखे जाने के कारण वह सर्वसाधारण की रुचि परिष्कृत नही बना सका, यह स्पष्ट है। एक ओर सुधार मच पर, सस्ती उत्तेजना वर्धक वासनामूलक नृत्य और नर्तकियो के बहिष्कार के प्रस्ताव हो रहे थे और दूसरी ओर सवाक् चलचित्रो के रगमच पर अर्धनग्नता के निकृष्ट प्रदर्शन का अभिनन्दन हो रहा था। एक ओर जनता को प्रगति के पथ पर बढने का उपदेश दिया जाता था और दूसरी ओर असस्कृत निर्लज्ज अभिनयो द्वारा प्रमत्त बना कर गिरना सिखाया जाता था। विनोद के लिए रखे गये दृश्य भी मर्यादा व सकोच की सीमा का अतिक्रमण कर जाते थे।

अवश्य ही अपने छोटे-से जीवन में सवाक् चलचित्रो ने हमे ऐसे अनेक कलापूर्ण चित्र भी भेंट किये है, जिनसे हमे अपनी सस्कृति और समाज का यथार्थ ज्ञान हो सका, परन्तु चित्रो की सख्या देखते हुए वे नगण्य है। अभिनय-कला का वास्तविक उपयोग तो समाज की रुचि को अधिक परिष्कृत बना कर उसे प्रगति के पथ पर आगे बढाना ही है। यदि आधुनिक युग मे इतने साधनो से पूर्ण होने पर भी हमारी अभिनय-कला अपने महान्

सांस्कृतिक और सामाजिक लक्ष्य से शून्य रही, तो वह हम एक पग भी आगे न बढ़ा सकेगी।

जीवन में जो कुछ कुत्सित, अशिव, अमंगलकर और अनर्गल पतनकर है, उसी में सुन्दर, शाश्वत्, कल्याणमय और महान् देवत्व को ढूँढने के प्रयास में कला का जन्म और उसकी अभिव्यक्ति में कला की सिद्धि है। इसीसे मनुष्य ने उसके बिना अपने आप को अपूर्ण अनुभव किया है और सदा करता रहेगा। अभिनय हमारी केवल प्राचीन ही नहीं, प्रिय कला भी है। यदि हम जीवन को अधिक परिष्कृत और सुन्दर बनाने में इसका उपयोग करें, तो इससे व्यक्ति और समाज दोनों ही अधिक पूर्ण हो सकेंगे। जैसे विकृत मात्रा में तो औषधि भी विष हो जाती है।

हमारा देश और राष्ट्रभाषा

हमारा हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला हुआ देश, आकार और आत्मा दोनो दृष्टियो से महान् और सुन्दर है। उसका वाह्य सौन्दर्य विविधता की सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति है और आत्मा का सौन्दर्य विविधता में छिपी हुई एकता की अनुभूति है।

चाहे कभी न गलने वाला हिम का प्राचीर हो, चाहे कभी न जमने वाला अतल समुद्र हो, चाहे किरणो की रेखाओ से खचित हरीतिमा हो, चाहे एकरस शून्यता ओढे हुए मरु हो, चाहे साँवले भरे मेघ हो, चाहे लपटो में साँस लेता हुआ बवडर हो, सब अपनी भिन्नता मे भी एक ही देवता के विग्रह को पूर्णता देते है। जैसे मूर्ति के एक अग का टूट जाना सम्पूर्ण देव-विग्रह को खडित कर देता है, वैसे ही हमारे देश की अखडता के लिए विविधता की स्थिति है।

यदि इस भौगोलिक विविधता में व्याप्त सास्कृतिक एकता न होती, तो यह विभिन्न नदी, पर्वत, वनो का सग्रह मात्र रह जाता। परन्तु इस महादेश की प्रतिभा ने इसकी अन्तरात्मा को एक रसमयता में प्लावित कर के इसे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है, जिससे यह आसमुद्र एक नाम की परिधि मे वँध जाता है।

एक देश अपनी सीमा में विकास पाने वाले जीवन के साथ एक भौतिक इकाई है, जिसने उस समस्त चित्र को भौतिक और भौगोलिक इकाई में जकड़ रखा है। विकास की दृष्टि से उसकी दूसरी स्थिति आत्म-रक्षात्मक तथा व्यवस्थापक राजनैतिक सत्ता में है। तीसरी तह में गहरी तथा व्यापक स्थिति उसकी सांस्कृतिक संश्लिष्टता में है, जिससे वह अपने विशेष व्यक्तित्व की रक्षा और विकास करता हुआ विश्व-जीवन के विकास में योग देता है। यह सभी बाह्य और स्थूल तथा आन्तरिक और सूक्ष्म स्थितियाँ एक दूसरी पर प्रभाव डालती और एक दूसरी से प्रभावित होती रहती हैं।

एक विशेष भू-खण्ड में रहने वाले मानव का प्रथम परिचय, सम्पर्क और संघर्ष अपने वातावरण से ही होता है और इससे प्राप्त जय, पराजय, समन्वय आदि से उसका बहिर्जगत् ही संस्कारित नहीं होता, प्रत्युत् अन्तर्जगत् और मानसिक संस्कार भी प्रभावित होते हैं।

व्यवस्थापक शासन, विधिनिषेधमयी आचार-नीति, दर्शन, साहित्य आदि एक अखण्ड विकास-क्रम में बँधकर ही उस विशेष भूखण्ड में मानव जीवन को विशेष व्यक्तित्व देते हैं। इस प्रकार राष्ट्र न केवल नदी पर्वत वन का समूह है, न सत्ता से शासित रहने-वाले मनुष्यों की भीड़ मात्र।

एक स्वस्थ मानव जैसे पार्थिव शरीर में सूक्ष्म चेतना का और [illegible] पक्षों से [illegible] ही [illegible] है।

वैसे ही राष्ट्र भी विभिन्न स्थूल और सूक्ष्म रूपो और प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष शक्तियो का एक जीवित गतिशील विग्रह है।

परिस्थितियाँ क्षणजीवी होती है, परन्तु उनके सस्कारो का जीवन अक्षय ही रहता है। किसी जाति या देश की राजनीतिक पराजय आकस्मिक हो सकती है, परन्तु उसका सास्कृतिक अवरोध उसकी जीवनी शक्ति के अवरुद्ध होने पर ही सम्भव है।

वैसे व्यापक अर्थ में मानव-सस्कृति एक ही है, क्योकि मनुष्य के बुद्धि और हृदय का सस्कार-क्रम उसके जीवन के समान ही व्यापक और निश्चित है, परन्तु जैसे विकास की दृष्टि से वृक्ष एक होने पर भी उसका आँधियो से लोहा लेने वाला तना, मन्द वायु के सामने झुकने वाली शाखाएं चिर चचल पल्लव और झरझर वरसने वाले फूल, सब का अपना-अपना विकास है, जैसे शरीर एक होने पर भी अगो का गठन और विकास एक रूप नही होता, वैसे ही मानव-सस्कृति एक होकर भी अनेक रूपात्मक ही रहेगी। उसकी विविधता का नष्ट होना उसके व्यक्तित्व का पापाणीकरण है।

हमारा देश अपने प्राकृतिक वैभव मे जितना समृद्ध है, अपनी आन्तरिक विभूतियो मे उससे कम गुरु नही। उसकी मूल समानता, लक्ष्यगत एकता और इन दोनो को जोडने वाली प्रदेशगत विविधता की तुलना के लिए ऐसी नदी को खोजना होगा, जो एक हिमालय से निकल कर एक समुद्र मे मिलने के पहले अनेक धाराओ मे विखर वट कर प्रवाहित होती है। जैसे विभिन्न दूर

पास से अंगों से रक्त का एक हृदय में आना और एक से पुनः अनेक में लौट जाना ही शरीर की रचनात्मक शक्ति है उसी प्रकार भारतीय संस्कृति बार-बार एक केन्द्र बिन्दु को छू कर दूर प्रसार की क्षमता पाती रही है।

रूपात्मक प्रकृति के प्रति हमारी रागात्मक दृष्टि, जीवन के प्रति हमारी आस्था, समाज, देश विश्व के विषय में हमारी नैतिक मान्यताएं सम्पूर्ण एक रही हैं, इसी से हमारे साहित्य, कला, दर्शन आदि अपनी विविधता में भी एक ही हैं।

जहां तक भाषा का सम्बन्ध है, प्रत्येक विद्वान् जानता है कि ध्वनि पर कण्ठ और कण्ठ पर वातावरण का अनिवार्य प्रभाव एक भाषा में भी एक रूपता नहीं रहने देता। हमारे विशाल राष्ट्र में विविध भाषाओं की स्थिति स्वाभाविक है; परन्तु किसी भी जीवित जाग्रत देश की भाषा की तुलना उन सिक्कों से नहीं की जा सकती, जो बाजार में क्रय-विक्रय के जड़ माध्यम मात्र हैं। वस्तुतः भाषा जीवन की अभिव्यक्ति भी है। सौरभ फूल का नाम और परिचय देता है पर वह उसके विकास का व्यक्त रूप भी है, जो उसे मिट्टी धूप पानी आदि के संयोग से प्राप्त होता है। विशेष भूभाग में रहने वाले मानव-समूह की भाषा उनके परस्पर व्यवहार का माध्यम होने के साथ-साथ उस समाज के जीवन, सुख-दुख, आकांक्षा-निराशा, स्वप्न-जागरण, यथार्थ-आदर्श, स्मित-क्रन्दन आदि की स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी है। अतः भाषा के साथ किसी जाति की संस्कृति भी अनिवार्य संबंध से बंधी रहती है क्योंकि उसके अभाव में भाषा के विकास की आवश्यकता नहीं

रहती। यदि हमारी थोडी-सी स्थूल आवश्यकताएँ है, तो उन्हे व्यक्त करने के लिए इने-गिने शब्द-सकेत ही पर्याप्त होगे।

किसी हाट मे क्रय-विक्रय के कार्य के लिए आवश्यक शब्दो की सख्या अधिक नही होती , परन्तु जब हम अपने भाव-जगत्, विचार-मथन सौन्दर्यबोध आदि को आकार देने बैठते है, तब हमे ऐसी शब्दावली की आवश्यकता पडती है, जो भाव के हर हल्के गहरे रग को व्यक्त कर सके, बुद्धि की हर क्षणिक और स्थायी प्रक्रिया को नाम दे सके, सौन्दर्य की हर सूक्ष्म स्थूल रेखा को आँक सके। हम भाषा के अध्ययन से यह निर्णय कर सकते है कि उसे बोलनेवाली जाति सास्कृतिक दृष्टिसे विकास का कौन-सा प्रहर पार कर रही है। सस्कृति या समकृति कोई निर्मित वस्तु न होकर विकास का अनवरत क्रम है। मनुष्य का प्रत्येक कर्म अपने पीछे विचार, चिन्तन, सकल्प, भाव अनुभूति की दीर्घ और अटूट परम्परा छिपाये रहता है, इसीसे सस्कार-क्रम भी अव्यक्त और व्यक्त दोनो सीमाएँ छूता हुआ चलता है। भाषा सस्कृति का लेखा-जोखा रखती है, अत वह भी अनेक सकेतो और व्यजनाओ में ऐश्वर्यवती है।

हमारे देश ने आलोक और अन्धकार के अनेक युग पार किये है, परन्तु अपने सास्कृतिक उत्तराधिकार के प्रति वह एकान्त सावधान रहा है उसमें अनेक विचार-धाराएँ समाहित हो गई, अनेक मान्यताओ ने स्थान पाया, पर उसका व्यक्तित्व सार्वभौम होकर भी उसी का रहा।

उसके अन्तर्गत आलोक ने उसकी वाणी के हर स्वर को उसी

प्रकार उद्भासित कर दिया, जैसे आलोक हर तरंग पर प्रति-बिम्बित होकर उसे आलोक की रेखा बना देता है। एक ही उद्गम से जल पाने वाली नदियों के समान भारतीय भाषाओं के बाह्य और आन्तरिक रूपों में उत्पन्न विशेषताओं का सीमित हो जाना ही स्वाभाविक था। रूप अपने अस्तित्व में भिन्न हो सकते हैं परन्तु धरती के रस का अंश तो एक ही रहेगा। इसी से हमारे चिन्तन और भावजगत् में ऐसा कुछ नहीं है, जिसमें सब प्रदेशों के हृदय और बुद्धि का योगदान और समान अधिकार नहीं है।

आज हम एक स्वतन्त्र राष्ट्र की स्थिति पा चुके हैं, राष्ट्र की अनिवार्य विशेषताओं में जो हमारे पास हैं, भौगोलिक अखण्डता और सांस्कृतिक एकता, परन्तु अब तक हम उन साधनों को प्राप्त नहीं कर सके हैं, जिनसे एक स्वतन्त्र राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के निकट अपना परिचय देता है। जहाँ तक बहुभाषाभाषी होने का प्रश्न है, ऐसे देशों की संख्या कम नहीं है जिनके भिन्न भागों में भिन्न भाषाओं की स्थिति है। पर, उनकी अविच्छिन्न स्वतन्त्रता की परम्परा ने उन्हें सब-भिन्न स्वरों से एक राग रच लेने की क्षमता दे दी है।

हमारे देश की कथा कुछ दूसरी है। हमारी परतन्त्रता आँधी तूफान के समान नहीं आई, जिसका आकस्मिक सम्पर्क और अनुभूति से अस्तित्व को सजग कर देता है। वह तो रोग के कीटाणु लाने वाले मन्द समीर के समान चोर के समान रग रग में व्याप्त हो गई है। इसने अपने सम्पूर्ण अस्तित्व में

उसके भार को दुर्वह नही अनुभव किया और हमें यह ऐतिहासिक सत्य भी विस्मृत हो गया कि कोई भी विजेता विजित देश पर राजनीतिक प्रभुत्व पाकर ही सन्तुष्ट नही होता, क्योकि सास्कृतिक प्रभुत्व के बिना राजनीतिक विजय न पूर्ण है न स्थायी। घटनाएँ सस्कारो में चिर जीवन पाती है और सस्कार के अक्षय वाहक, शिक्षा, साहित्य, कला आदि है।

दीर्घकाल से विदेशी भाषा हमारे विचार-विनिमय और शिक्षा का माध्यम ही नही रही, वह हमारे विद्वान् और सस्कृत होने का प्रमाण भी मानी जाती रही है। ऐसी स्थिति मे यदि हममे से अनेक उसके अभाव मे जीवित रहने की कल्पना से सिहर उठते है, तो आश्चर्य की वात नही। पर रोग की स्थिति को स्थायी मान कर तो चिकित्सा सम्भव नही होती। राष्ट्र-जीवन की पूर्णता के लिए उसके मनोजगत् को मुक्त करना होगा और यह कार्य विशेष प्रयत्न साध्य है, क्योकि शरीर को बाँधनेवाली शृखला से आत्मा को जकडनेवाली शृखला अधिक दृढ होती है।

आज राष्ट्रभाषा की स्थिति के सम्बन्ध में विवाद नही है, पर उसे प्रतिष्ठित करने के साधनो को लेकर ऐसी विवादैषणा जागी है कि साध्य ही दूर से दूर तक होता जा रहा है। विवाद जब तर्क की सीधी रेखा पर चलता है, तब लक्ष्य निकट आ जाता है, पर जब उसके मूल मे आशका, अविश्वास और अनिच्छा रहती है, तब कही न पहुँचना ही उसका लक्ष्य बन जाता है।

आधुनिक युग में जब विज्ञान ने समुद्रो और पर्वतो का अन्तर दूर कर एक देश को दूसरे के पास पहुँचा दिया है, जब अणु बम की

अन्तर प्रान्तों में भी अमर मानवता जाग उठी है और वह एकता की भावों के बीजों को निर्माण के अंकुर निकल उठा रहे हैं, तब हम अपने मनों को छोटी बना कर, सन्देह के प्राचीर खड़े कर और विरोध के स्वरों में बोल कर अपनी महान परम्पराओं की अवज्ञा ही करेंगे।

एक सुन्दर स्वप्न अनेक सुन्दर स्वप्नों से मिल कर जीवन को विराट् सौन्दर्य देता है, एक शिव भावना अनेक शिव भावनाओं से मिल कर मनुष्य को विशाल शिवता देता है, एक निष्ठामय कर्म अनेक निष्ठामय कर्मों से मिल कर विश्व को अजस्र गति देता है। इसके विपरीत एक दुर्भाव अनेक दुर्भावनाओं से मिल कर जीवन को विषाक्त कर देता है। एक अविश्वास अनेक अविश्वासों के साथ मनुष्य को शंकित कर देता है और एक आघात अनेक आघातों को परिवर्धित कर मनुष्यता को क्षत-विक्षत कर देता है।

हम जीवन को सौन्दर्य और गति देने वाली प्रवृत्तियों के साथ रह कर जिन प्रश्नों का समाधान करना चाहेंगे, वे स्वयं उत्तर बन जायेंगे।

जहाँ तक हिन्दी का प्रश्न है वह अनेक प्रादेशिक भाषाओं की सहोदरा और एक विस्तृत भिन्नता भरे प्रदेश में अनेक देशज बोलियों के साथ पल कर बड़ी हुई है। अवधी, ब्रज, भोज-पुरी, मगही, बुंदेली, बघेलखंडी आदि उसकी गोद में खेलने वाली प्रिय सहचरियाँ हैं। उसके साथ नगर और गाँवों, मैदान और घाटियों, निर्जन और जनपदों में घूमघूम कर उसने, उसके आँसू और स्मित हँसी का सम्बन्ध पाया है।

साधको ने अपने कमडल के पूत जल से इसे पवित्र बनाया है। साम्राज्यवाद का स्वर्ण मुकुट न इसकी धूल धूसरित उन्मुक्त अलको को बाँध सका है, न बाँध सकेगा। दीपक की लौ पर सोने का खोल क्या उसे बुझा नही देगा?

जब राजतन्त्र के युग में भी वह द्वार-द्वार पर समानता का अलख जगाती रही, तब आज जनतन्त्र के युग मे उसके लिए प्रासाद की कल्पना उसकी मुक्त आत्मा के लिए कारागार की रचना ही कही जायगी।

हिन्दी के प्रादेशिक और भारतीय रूप भी चर्चा के विषय बन रहे है। यह प्रश्न बहुत कुछ ऐसा ही है, जैसे एक हृदय के साथ दो शरीरो की परिकल्पना।

हिन्दी की विशेषता उसकी मुक्ति मे रही है, इसका प्रमाण उसके शब्दकोष में मिल सकेगा। उसने देशज बोलियो तथा देशी-विदेशी भाषाओ से शब्द ग्रहण करने मे न कभी सकीर्णता दिखाई और न उन्हे अपना बनाने में दुविधा का अनुभव किया। परन्तु विकसित परिमार्जित और साहित्यवती भाषा का कोई सर्वमान्य रूप या मानदड न हो, ऐसा सम्भव नही होता।

आज हिन्दी मे साहित्य सृजन करने वालो मे कोई विहार का मगही भाषी है कोई मथुरा का वृज भाषी। परन्तु बुन्देलखडी बोलनेवाले राष्ट्रकवि मैथिलीशरण, बैसवाडी बोलनेवाले कविवर निराला और कुमाउँनी बोलनेवाले श्री सुमित्रानन्दनजी क्या समान रूप से हिन्दी के वरद पुत्र नही कहे जाते? यदि हिन्दी को विहारी हिन्दी, अवधी हिन्दी, बुन्देली हिन्दी नही बनाया जा

सकता है, तो उसका कारण हिन्दी का यह संश्लिष्ट रूप और सुसं-गत गठन है जिसके बिना कोई भाषा पनप नहीं पाती।

अंग्रेजी भाषा सारे विश्व भर में फैली है, उसमें देशज संस्कार भी है, परन्तु इससे अंग्रेजी का न सर्वमान्य गठन खंडित होता है और न उसे नए नामकरणों की आवश्यकता होती है। विश्व की सभी महत्त्वपूर्ण भाषाओं के संबंध में यह सत्य है। परिवर्तन भाषा के विकास का परिचय है, पर परिवर्तन में अन्तर्निहित एक तारतम्यता उसके जीवन का प्रमाण है। शिशु से वृद्ध होने तक शरीर न जाने कितने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष परिवर्तनों का क्रम पार करता है, परन्तु उसकी मूलगत एकता अक्षुण्ण रह कर उसे एक संज्ञा से घेरे रहती है। भाषा केवल [illegible] लिपि नहीं है, वरन् उसके हर शब्द के पीछे संचित वस्तु स्पन्दित रहती है और प्रत्येक शब्द का एक सजीव इतिहास होता है। अतः एक जीवित भाषा का जीवन के साथ ही विकसित और परिमार्जित होते रहना स्वाभाविक है।

भाषा भी गढ़ी जाती है, परन्तु वह कुम्भकार का घट निर्माण नहीं, मिट्टी का अंकुर-निर्माण है। जिस प्रकार मनुष्य की मूलगत प्रवृत्तियों को नए रूप में ढाल कर हम उनके अनुसार आदर्श और प्रत्यक्ष कर्म का निर्माण कर सकते हैं उसी प्रकार भाषा की नैसर्गिक शक्तियों से लाभ उठा कर, नए विचार आदर्श रख कर उसे नए रूपों में समर्थ बना सकते हैं। हिन्दी का प्रारम्भ से जन-स्पर्शी रूप तथा उसमें नाना बोलियों तक आने का क्रम कितना सामंजस्यपूर्ण है इसका भी अनुमान [illegible] क्योंकि जिन [illegible] ने

साथ यह विकसित हुई, उससे इसका धरती और बीज का सा सम्बन्ध था, जिसमें एक दे कर पाता है और दूसरा पाकर देता है।

हिन्दी अपना भविष्य किसी से दान मे नही चाहती। वह तो उसकी गति का स्वाभाविक परिणाम होना चाहिए। जिस नियम से नदी नदी की गति रोकने के लिए शिला नही बन सकती, उसी नियम से हिन्दी भी किसी सहयोगिनी का पथ अवरुद्ध नहीं कर सकती।

यह आकस्मिक सयोग न होकर भारतीय आत्मा की सहज चेतना ही है, जिसके कारण हिन्दी के भावी कर्तव्य को जिन्होने पहले पहचाना वे हिन्दी भाषा भाषी नही थे। राजा राममोहन राय से महात्मा गान्धी तक प्रत्येक सुधारक, साहित्यकार, धर्म-सस्थापक, साधक और चिन्तक हिन्दी के जिस उत्तरदायित्व की ओर सकेत करता आ रहा है, उसे नतशिर स्वीकार कर लेने पर ही हिन्दी लक्ष्य तक नही पहुँच जायगी, क्योकि स्वीकृति मात्र न गति है न गन्तव्य। वस्तुत सम्पूर्ण भारत सघ को एकता के सूत्र मे बाँधने के लिए उसे दोहरे सम्वल की आवश्यकता है। एक तो आन्तरिक जो मन के द्वारो को उन्मुक्त कर सके और दूसरा वाह्य जो आकार को सवल और परिचित बना सके। अन्य प्रदेशो के लोकहृदय के लिए तो वह अपरिचित नही है, क्योकि दीर्घकाल से वह सन्त साधको की मर्मवानी वन कर ही नही, हाट वजार की व्यवहार वोली के रूप मे भी देश का कोना-कोना घूम चुकी है।

यदि आज उसे अन्य प्रदेशों में अविश्वास मिले, तो उसका वर्तमान गर्हित और अतीत मिथ्या हो जायगा।

उसकी लिपि का स्वरूप भी मतभेदों का केन्द्र बना हुआ है। सुदूर अतीत की ब्राह्मी से नागरी लिपि तक आते-आते उसके बाह्य रूप को समय के प्रवाह ने इतना मांजा और संवारा है कि उसे किसी बड़ी शल्य चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है। नाम मात्र के परिवर्तन से ही वह आधुनिक युग के मुद्रण-टंकण यंत्रों के साथ अपनी संगति बैठा लेगी, परन्तु तर्कस्वरूपी रियायतों ने उसका पथ प्रशस्त न करके उसके वैज्ञानिक सौष्ठव को भी कुण्ठित कर दिया है। यदि चीनी जैसी चित्रमयी दुरूह लिपि अपने राष्ट्र-जीवन का सन्देश वहन करने में समर्थ है, तो हमारी लिपि के मार्ग की बाधाएं दुर्लंघ्य कैसे मानी जा सकती हैं।

स्वतन्त्रता ने हमें राजनीतिक शक्ति देकर भी न मानसिक शक्ति दी है और न हमारी दृष्टि को नया क्षितिज। हमारा शासन-तन्त्र और उसके सञ्चालक भी इसके अपवाद नहीं हो सकते, परन्तु हमारे पथ की सब से बड़ी बाधा यह है कि हमारी स्वतन्त्र विचार-भावना परमुखापेक्षी होती जा रही है। पर अन्धकार आलोक का स्वीकार भी तो होता है। दीपक की लौ से हृदय में पैठ सके ऐसा कोई घाट अँधेरे के सागर में नहीं होता। यदि हमारी आस्था में विश्वास की निष्कम्प लौ है तो मार्ग उज्ज्वल रहेगा ही।

भाषा का सीखना उसके साहित्य को जानना है और साहित्य को जानना मानव-एकता की स्वानुभूति है। हम जब साहित्य

के स्वर म बोलते है, तब वे स्वर दुस्तर समुद्रो पर सेतु बाँधकर, दुर्लंघ्य पर्वतो को राजपथ बनाकर मनुष्य की सुख-दु ख कथा मनुष्य तक अनायास पहुँचा देते है।

अस्त्रो की छाया मे चलने वाले अभियान निष्फल हुए है, चक्रवर्तियो के राजनीतिक स्वप्न टूटे है, पर मानव-एकता के पथ पर पडा कोई चरण-चिन्ह अब तक नही मिटा है। मनुष्य को मनुष्य के निकट लाने का कोई स्वप्न अब तक भग नही हुआ है।

भारत के लोक-हृदय और चेतना ने अनन्त युगो में जो मातृमूर्ति गढी है, वह अथर्व के पृथ्वीसूक्त से वदेमातरम् तक एक, अखड और अक्षत रही है। उस पर कोई खरोच, हमारे अपने अस्तित्व पर चोट है।

हिन्दी केवल कठ का व्यायाम न होकर हृदय की प्रेरणा बन सके तभी उसका सन्देश सार्थक हो सकेगा। हम माता से जो क्षीर पाते है, वह उसके पार्थिव शरीर का रसमात्र न होकर आत्मा का दान भी होता है। इसी से वह हमारे शरीर का रसमात्र बन कर नि शेष नही हो जाता, वरन् आत्मा से मिलकर अनन्त स्वप्न-सकल्पो में फूलता-फलता रहता है ।

हिन्दी के धरातल पर सन्त रविदास और भक्त सूरदास पग मिला कर चले हैं और निर्गुणवादी कबीर और सगुणवादी तुलसी कन्धा मिला कर खडे हुए है।

जहाँ सम्प्रदायो की कठिन सीमाएँ भी तरल होकर गल गई, उसी भूमि पर भेद की कल्पित दीवारें कैसे ठहर सकेगी !

साहित्य और साहित्यकार

मनुष्य का विकास समस्याओं का विस्तार है, यह आज के युग से जितना सत्य है, उतना कदाचित् ही किसी अन्य युग में रहा हो।

विज्ञान एक ओर मनुष्य की भौतिक समस्याओं को हल करता है, दूसरी ओर उसकी मानसिक समस्याओं को जटिलतर बनाता चलता है। उसने मनुष्य की, हानि पहुंचाने वाली प्रवृत्ति को उसकी शक्ति का मापदण्ड बनाकर जीवन में एक विचित्र स्थिति उत्पन्न कर दी है। आतंक के पंखों पर उड़ने वाली ध्वंसात्मक प्रवृत्तियां अपने वेग के कारण तुरन्त दृष्टि का केन्द्र बन जाती हैं, पर निर्माणात्मक प्रवृत्तियों का अस्तित्व उनके निर्माण में ही स्पष्ट हो सकता है। हम आंधी, वज्रपात के समय आकाश की ओर जितने उन्मुख होते हैं, उतने गुनगुनी धूप में नहाते समय नहीं। किसी ज्योतिपिंड का टूटना, हमें जितना विस्मित करता है, उतना अंकुर का धरती से फूटना नहीं। जैसे ज्योतिपिंड के टूटने से सनातन सत्य नियम टूटता है, अंकुर फूटने से वह नियम अर्थ पाता है। यों तो आलोकित आकाश से धरती पर गिर कर ज्योतिपिंड अन्धकारहित निष्प्रभ भार बन जाता है और अंकुर पल्लवित होकर धरती के अन्धकार से आकाश के आलोक की ओर बढ़ता है।

साहित्य मूलत निर्माण है, व्यक्ति के लिए भी और समष्टि के लिए भी, अत उसे सृजन के किसी विराट् ऋत की परिधि मे चलने वाले एक जीवन-ऋत की ही सज्ञा दी जा सकती है। सृजन के अन्य महान् ऋतो के समान ही वह वरदान और अभिशाप का भागी है।

वरदान है कि मानव जीवन की विकास परम्परा को खड-खड बिना किये उसे खडित नही किया जा सकता। अभिशाप है कि उसकी स्थिति मे दूसरो की आस्था ही उसकी उपेक्षा का कारण बन जाती है।

आज के विज्ञान समृद्ध और राजनीति अनुशासित युग मे भी यदि किसी देश से कहा जावे कि उसे साहित्य के बिना जीना चाहिए तो वह विस्मित भी होगा और रुष्ट भी। उसे यह सुझाव जीवन के निषेध जैसा भी लग सकता है और बर्बरता के लाछन जैसा भी। परन्तु यदि ससार के सब महान् साहित्यकार समवेत स्वर में घोषणा करें कि वे साहित्य-सृजन नही करेंगे, तो न कोई उनका विश्वास करेगा और न उन्हे इस निश्चय से विरत करने का प्रयत्न करेगा। इसके विपरीत यदि किसी अन्य क्षेत्र के व्यक्ति, चाहे वे वैज्ञानिक हो चाहे श्रमिक, यदि अपने कार्य से विरत होने की घोषणा करे, तो उन्हें रोक सकने के लिए दड और पुरस्कार दोनो के विविध उपयोग किये जायँगे।

इस प्रत्यक्षत उपेक्षित स्थिति के मूल मे साहित्य के प्रति कोई अटूट आस्था नही है, यह मान लेना उचित न होगा।

हम रात भर सूर्य से लौटने के लिए प्रार्थना नही करते।

हम गंगा की लहरियों में समुद्र तट पर बैठकर उसके चरम संदेश के लिए निवेदन नहीं करते। हम सागर के लिए पवन के साथ दूत नहीं भेजते, पर क्या उससे यह प्रमाणित नहीं होता कि हमें उसकी निरन्तर उपस्थिति में अगाध विश्वास है। साहित्य का प्रश्न भी बहुत कुछ ऐसा ही है। साहित्य की स्थिति में आस्था रखने के कारण ही हम उसके स्रष्टा के अस्तित्व के विषय में आश्वस्त रहते हैं। साहित्य हमारे निकट जीवन की गम्भीर अभिव्यक्ति है, उसका अलंकार मात्र नहीं, अतः उसकी प्राप्ति की दिशा में हमारे सावधान प्रयत्न मात्र पर्याप्त नहीं होते।

पर इस आस्था ने साहित्यकार के जीवन के सभी पहलुओं को दोहरे समाधानों से बाँध दिया है। उसकी महानता और लघुता की कसौटी समाधानों के चुनाव में है। यह स्वाभाविक भी है और सहज भी। व्यक्ति किसी निर्णय की सफलता में न होते हुए भी भ्रम पाल सकता है, परन्तु स्रष्टा को तो सफलता में ही निर्णय करना होता है।

दर्शन यदि जीवन के किसी अंश का मूल्यांकन है, तो स्रष्टा अनेक मूल्यांकनों का मूल्यांकन कही जायगी। साहित्यकार यदि व्यक्तिगत सीमाओं को सर्वथा भूल दे तो वह भीड़ का एक भाग रह जाता है और यदि वह समष्टि का विस्तार भूल जावे तो एकाकी रह जाता है। यदि जीवन के सत्य प्रश्न भी उसकी सीमा में आते ही व्यष्टिगत हो जाते हैं, तो आश्चर्य की बात नहीं।

साहित्य-सृजन [illegible]

नही है, क्योकि उसके लिए एक विशेष प्रतिभा और उसे सम्भव करने वाले मानसिक गठन की आवश्यकता होती है।

किसी अनिवार्य विवशता, किसी सर्वथा प्रतिकूल परिस्थिति मे यह प्रतिभा कुठित हो सकती है, यह मानसिक गठन विघटित हो सकता है, परन्तु केवल स्ववशता और अनुकूल परिस्थिति मानसिक गठन का निर्माण कर इस प्रतिभा का सृजन करने मे समर्थ नही होती। इसी से हम महान् प्रतिभाओ को इच्छानुसार वाजीगर के चमत्कार के समान प्रत्यक्ष और तिरोहित नही कर पाते।

मनुष्य अपनी रागात्मक व्याप्ति के बिना समष्टि मे पहचाना नही जा सकता। वह अपने बौद्धिक विस्तार के बिना माना नही जा सकता और इस व्याप्ति और विस्तार के मूल्याकन के अभाव में मानव जाति की प्रगति का लेखा-जोखा अमिट नही रह सकता। नदी जिस प्रकार दोनो तटो को अलग-अलग स्पर्श करके भी अपनी एकता मे एक रखती है, उसी प्रकार साहित्य भी जीवन की भिन्न जान पडने वाली वृत्तियो को अपने स्पर्श की एकता मे एक रखता है।

वह वहुमुखी दायित्व देने वाला ऐसा रागात्मक कर्म है जिसके कारण साहित्यकार की स्थिति को एक कोण से देखना कठिन हो जाता है।

उसका सृजन न केवल श्रम है और न आजीविका के लिए स्वीकृत कोई पेशा या व्यापार मात्र। न वह व्यक्ति का निरानन्द आत्मदान है और न समाज से औपचारिक आदान।

इस श्रमिक की स्थिति स्वीकार कर लेने पर मूल्य की मात्रा भाव उसमें तय करती है। श्रम का प्रकार दूसरे की इच्छा और आवश्यकता पर निर्भर हो जाता है। श्रम देने वाले और लेने वाले की स्थिति का व्यावहारिक आधार निश्चित और स्पष्ट होने के कारण श्रम और मूल्य के आदान सम्बन्धी प्रश्नों को सुलझाना कठिन नहीं हो सकता।

यदि साहित्य को आजीविका की दृष्टि से स्वीकार कोई एक व्यापार मान लिया जावे तो न व्यक्ति की प्रतिभा विशेष के लिए स्थान सुरक्षित मिल सकता है और न उसके कर्म से उसके व्यक्तित्व का स्वरूप ही उचित माप आ सकता है।

यदि उसमें एक व्यापार के लिए आवश्यक कुशलता का अभाव है, तो दूसरे क्षेत्र में अपनी प्रतिभा की परीक्षा उसके लिए अनिवार्य हो जावेगी।

साहित्य को समाज के प्रति व्यक्ति का निवेदन मात्र या समाज का व्यक्ति को उपहार जैसा कुछ धर्म मान लेने पर यह विषमता का प्रसार हो जाता है और इस विषमता के लिए समाज में असन्तोष या विद्रोह ही स्वाभाविक है।

वस्तुतः साहित्य की समस्याएँ जीवन की समस्याओं के समान इस परिधि में एक दूसरे की ओर इशारा करती हैं। उनका एक छोर पकड़ने से दूसरा, तब उस छोर खोजने के प्रयास करने के लिए एक दृष्टि से दूर जाना है।

साहित्यकार क्यों लिखता है यह उसकी रचना के लिए विचारणीय है अथवा समष्टि के सन्तोष के लिए। साहित्यकार साहित्य-

कार का स्वेच्छा से किया आत्मदान है अथवा समाज की माँग की पूर्ति मात्र।

साहित्य-सृजन अपने स्रष्टा के लिए जीवन है या जीवनयापन का साधन मात्र। साहित्य युग-सापेक्ष है या निरपेक्ष। साहित्य के प्रेय और श्रेय की परीक्षा किसे दृष्टि में रख कर की जावे, आदि आदि प्रश्न ऐसे है, जिनके समाधान जीवन की समग्रता मे ही प्राप्त हो सकते है, उसे अशत देखने मे नही।

प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में साहित्य की उत्कृष्टता की कसौटी उसकी व्यापकता ही मानी गई है और यह व्यापकता स्वय व्यक्तिगत रुचि का निषेध है।

मनुष्य एक विशेष सामाजिक परिवेश मे उत्पन्न होता है और कुछ सस्कार उसे अपने परिवेश से उत्तराधिकार मे प्राप्त होते है और कुछ उसके व्यक्तिगत मधुरकटु, अनुभवो से बनते है। उसके कुछ व्यक्तिगत स्वार्थ होते है और कुछ समष्टिगत दायित्व, जिन्हे वह सामाजिक प्राणी के नाते स्वीकार करता है। व्यक्तिगत स्वार्थ और समष्टिगत स्वार्थों मे सघर्ष की सम्भावना जिस सीमा तक कम होती जाती है, उसी सीमा तक हम किसी समाज को और उसके सदस्यो को सस्कृत कहते है।

मनुष्य की महानता उसके दायित्व की विशालता का पर्याय है, क्योकि ऐसे व्यक्ति का स्वार्थ समाज विशेष के स्वार्थ मे ही लय नही हो जाता, वरन् मानव समष्टि के स्वार्थ या हित से एकाकार हो जाता है।

मनुष्य केवल प्राण-संवेदनयुक्त जीव ही नहीं है, वह अनेक मानसिक संभावनाओं और संवेदन के विविध स्तरों का स्वामी है। बुद्धि की संश्लेषण प्रक्रिया और अन्तःकरण की वृत्तियों में सामञ्जस्य लाने का सचेतन प्रयास और उससे आनन्द की अनुभूति उसकी अपनी विशेषता है, जो उसे शेष सृष्टि से भिन्न कर देती है। केवल शारीरिक बाधा के साधन और आत्मरक्षण की सहज चेतना उसमें अन्य प्राण-संवेदनयुक्त जीवों के समान होना स्वाभाविक है। परन्तु अपनी वास्तविक स्थिति से असन्तोष, महान स्थिति विषयक जिज्ञासा, अनुभूत सत्यों के आधार पर सर्वथा अननुभूत सत्यों तक पहुँचने का प्रयास, प्रयास में आनन्दमयी स्थिति की परिकल्पना और अप्राप्त लक्ष्य में आस्था आदि विशेषताओं के कारण ही वह विशिष्ट है। अपनी इस विकासनिष्ठ क्रिया को स्वरूप देने के लिए वह अपने भौतिक और मानसिक स्तरों का संगठन और संशोधन नए-नए प्रकारों से करता आ रहा है। अपने सहज प्राप्त परिवेश से ही सन्तुष्ट न होकर वह उस पर अपने अन्तर्जगत् को भी प्रतिफलित करता चलता है, इस प्रकार उसकी गति से भौतिक विश्व की एक मानसिक सृष्टि भी होती आ रही है।

दर्शन, धर्म, विज्ञान, कला, साहित्य सभी ने जीवन के इस दोहरे विकास में योग दिया है। पर स्वरूप से ही सर्वांगीण और समष्टिनिष्ठ तथा बुद्धि और भावनिष्ठ अभिव्यक्तियों, साहित्य की अधिकार रहती है। जीवन को समग्रता से स्पर्श करने के कारण और बुद्धि तथा अन्तःकरण की विविध वृत्तियों को संश्लिष्ट करने

की क्षमता के कारण साहित्य सहज ही मनुष्य के रहस्य का उद्-
गीथ बन गया है।

यह तो सर्व स्वीकृत है कि साहित्य-सृजन का कार्य विशेष व्यक्ति कर पाते है जिन्हे उनके परिवेश तथा बुद्धि, अन्त करण की वृत्तियो ने उपयुक्त साधनो से सम्पन्न कर दिया है। वे न अमानव है, और न अतिमानव, प्रत्युत् विकास के ऐसे विन्दु पर सामान्य मानव है कि जीवन और परिवेश मे अव्यवत हलचल भी उनकी अनुभूति में व्यक्त हो जाती है। साहित्य को चाहे किसी ने जीवन का अनुकरण माना हो, चाहे कल्पनासृष्टि, चाहे जीवन नीति का सचालक कहा हो, चाहे सौन्दर्य बोध मात्र परन्तु उसके सृष्टा की विशिष्ट प्रतिमा को सभी ने स्वीकार किया। अभ्यास मात्र से उत्कृष्ट साहित्य-सृजन सम्भव है, यह आज का वैज्ञानिक युग भी स्वीकार नही करता, अन्य अतीत युगो की चर्चा ही व्यर्थ है।

ऐसी स्थिति में साहित्य को व्यक्तिगत रुचिमात्र मान लेना, उसके युगान्तर व्यापी प्रभाव को अस्वीकार करना है।

साहित्य विशेष व्यक्तित्व का परिणाम है, इसी अर्थ में उसे व्यक्तिगत कहा जा सकता है, पर इस अर्थ मे मानसिक ही नही, भौतिक विकास भी वस्तुनिष्ठ रहेगा। विकास के रहस्यमय क्रम में एक वस्तु विकसित होकर विकसित करती है, इसी प्रकार विकास की परम्परा अबाध चलती हुई विकास का मानदड निर्मित करती है।

अपने सृजन से साहित्यकार स्वय भी बनता है, क्योकि उसमे नए सवेदन जन्म लेते है, नया सौन्दर्यबोध उदय होता है और नए

जीवन दर्शन की उपलब्धि होती है। तात्पर्य यह है कि यह जीवन की दृष्टि से समृद्ध होता जाता है, इसी से साहित्य-सृष्टि का लक्ष्य व्यष्टि, समष्टि का विरोधी नहीं हो सकता। पर यह क्रिया अपने रूपों को बनाने के साथ उनके परिवेश को भी बदलती रहती है, क्योंकि समष्टि में इन्हीं नवीन संवेदनों, सौन्दर्यबोधों और विश्वासों का स्फुरण होता रहता है।

फूल का विकास अपनी ही रूप-रस-गन्धमयता नहीं है, क्योंकि वह अपनी मिट्टी और परिवेश की शक्तियों का संयोजन और संवर्द्धन भी करता है। पौधा मिट्टी, धूप, पानी आदि नहीं बनाता परन्तु उनकी सम्मिलित शक्तियों का रासायनिक ग्रहण कर स्वयं बनता और उसे व्यक्त करने के लिए अपने परिवेश को बनाता है। मूर्तिकार न पाषाण बनाता है न छेनी या हथौड़ा। वह केवल पार्थिव उपादानों और उनकी शक्तियों को संयोजित कर अपनी मानसी सृष्टि को प्रत्यक्ष कर स्वयं संतोष पाता और समष्टिगत परिवेश का संवर्द्धन करता है। संगीतकार भी स्वरों का और तारों की धातु का सृजन नहीं करता। चित्रकार भी प्रकृति में बिखरे रंग और रेखाओं का सृजन नहीं करता। नृत्यकार भी गति का सृजन नहीं करता।

शिल्पी पाषाण में अवतरित आकारों को स्थूल आकार देकर, चित्रकार प्रत्यक्ष रूप-रेखाओं के संयोजन से किसी अन्तर्निहित भावरूप को आकार देकर और नृत्यकार व्यापक गति को जीवन की विविध चेष्टाओं में रूपायित कर जो सृजन करता है, वह व्यक्ति सीमित नहीं हो सकता, क्योंकि न वह उसका आविष्कारक

है और न बौद्धिक प्रक्रियाएँ और मानसिक वृत्तियाँ केवल उसकी हैं। इसी से मनुष्य की अव्यक्त सभावनाएँ और सवेदन किसी न किसी बिन्दु पर सब के हो जाते हैं और सब के हो जाने मे ही उनकी कृतार्थता है।

व्यक्ति से जिस सत्तागत अभिव्यक्ति अथवा अस्तित्वगत विशेषता का बोध होता है, वह भौतिक जगत् मे अधिक है, पर ज्यो-ज्यो हम उसके भीतर प्रवेश करते है, त्यो-त्यो ये कठिन रेखाएँ गल-गल कर तरल होने लगती है। दो पत्ते भी समान नही है, पर दो मनुष्य आकार मे भिन्न होकर भी सवेदन के स्तर पर समान हो सकते है।

इस मूलगत एकता के कारण ही साहित्यिक उपलब्धियाँ कालान्तर व्यापिनी हो जाती है। ऐसी स्थिति मे उसके सृष्टा मात्र ही उसके उपभोक्ता कैसे माने जा सकते हैं। जीवन के परिष्कार और परिवर्तन के हर अध्याय मे साहित्य के चिन्ह है, अत उसे व्यापक सामाजिक कर्म न कहना अन्याय होगा। पर, जब हम उसे सामाजिक कर्म मान लेते है, तब यह समस्या मानसिक क्षेत्र से उतर कर सामाजिक धरती पर प्रतिष्ठित हो जाती है और उसका समाधान भी नये रूप मे उपस्थित होता है।

यदि सामाजिक कर्म व्यक्ति का समष्टि को दान है, तो वह दान देने वाले और पाने वाले के मानसिक तथा भौतिक परिवेश के अनुसार ही कम या अधिक महत्त्व पाता है और ये दोनो परिवेश कभी-कभी एक दूसरे से इतने भिन्न जान पडते है कि देने वाले तथा पाने वाले में कोई सम्बध खोज लेना कठिन हो जाता है।

ऐसी स्थिति में ही साहित्य रचना विशेष की भ्रान्ति उत्पन्न कर देता है।

यह स्वीकार कर लेने पर कि साहित्य-सृजन व्यक्तिगत रतिभाव न होकर महत्त्वपूर्ण सामाजिक कर्म है, साहित्यकार की समस्या सामाजिक प्राणी की, और विशेष सम्बन्ध सामाजिक सदस्य की समस्या हो जाती है। समाज केवल भीड़ का पर्याय नहीं होता। समाना अर्जित संस्कार सम्पन्नशील व्यक्ति ही समाज है। उन व्यक्तियों में, व्यष्टिगत स्वार्थ की समष्टिगत रक्षा के लिए अपने विषम आचरण में सामञ्जस्य उत्पन्न करने वाले समझौते की स्थिति अनिवार्य रहेगी। व्यक्ति और व्यक्ति के स्वार्थों में संघर्ष की सम्भावना ज्यों-ज्यों घटती जाती है, त्यों-त्यों व्यक्ति का परिवेश समष्टि के परिवेश तक फैलता जाता है और पूर्ण विकसित समाज में व्यक्ति के सीमित परिवेश की कल्पना ही कठिन हो जाती है। मनुष्य अपनी विकासशीलता को समाज को सौंप देता है और इस समर्पण से वह स्वयं एक विस्तार और निरन्तर सृजन का अधिकारी हो जाता है। पर स्वस्थ समाज में व्यक्ति की क्रिया शक्ति की स्वाभाविक परिणति जीवन के विकास की सुविधा ही करती है। जब ऐसा सामञ्जस्य नहीं रहता तब ऐसी विच्छिन्न क्रिया कभी विद्रोह का पर्याय मानी जाती है कभी अपराध की संज्ञा पाती है।

स्वयं को शासित रखने के लिए समाज एक निश्चित विधि-निषेधमय विधान स्वीकार करता है, पर यह मर्यादित ऐसे अनिश्चित विधान से होता है जो परम्परा, रीति

आस्था, सस्कार मनोविकार आदि का सश्लिष्ट योगदान है।

पूर्ण से पूर्ण समाज भी व्यक्ति के जीवन को सब ओर से नही घेर सकता, क्योकि मानव-स्वभाव का बहुत-सा अश समाज की सीमा-रेखा के बाहर मुक्त और उसकी दृष्टि से ओझल रहता है।

मनुष्य के जीवन का जितना अश नीति, शिक्षा, आचार आदि सामाजिक सस्थाओ के सम्पर्क मे आता है, उतना ही समाज द्वारा शासित माना जायगा। समाज यदि मनुष्यो के समूह का नाम नही है, तो मनुष्य भी केवल क्रियाओ का सघात नही है, दोनो के पीछे सामूहिक और व्यक्तिगत इच्छा, हर्ष और विषाद की प्रेरणा रहती है। आचरण को सेना के समान कवायद सिखा देना ही जीवन नही है, वरन् कर्म को प्रेरित करने वाले मनोविकारो के उद्गम खोजकर उनमे विकास की अनुकूलता पा लेना जीवन का लक्ष्य है।

साहित्य का उद्देश्य समाज के अनुशासन के बाहर स्वच्छन्द मानव-स्वभाव में, उसकी मुक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए, समाज के लिए अनुकूलता, उत्पन्न करना है।

एक ओर वह विधि-निषेध से बाहर उडने वाले मानव मन को समष्टि से बाँध कर उसकी निरुद्देश्य उडान को थाम लेता है और दूसरी ओर समाज की दृष्टि से ओझल मानव-स्वभाव की विविधताओ को उसके सामने प्रस्तुत कर सामाजिक मूल्याकन को समृद्ध करता है। इस प्रकार निर्बन्ध कुछ बँध जाता है और बद्ध के बन्धन कुछ शिथिल हो जाते है।

मनुष्य को अपने लिए विशेष वातावरण ढूँढने नहीं जाना पड़ता। वह एक विशेष परिवेश में जन्म लेकर वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक संस्थाओं से परिचित और अनुशासित होता चलता है। जैसे उसे साँस के लिए वायु अनायास मिल जाती है उसी प्रकार समाज का दान भी अयाचित और अनजाने ही उसे प्राप्त हो जाता है। जब तक वह अपने आपको जानने की स्थिति में पहुँचता है, तब तक समाज उसे एक साँचे में ढाल चुकता है, परन्तु यदि मनुष्य अपने इसी निर्माण पर सन्तुष्ट हो सके तो उसमें और जड़ में अन्तर ही क्या रहेगा। वह दर्जी के सिले कपड़ों के समान समाज के विधि-निषेध को धारण कर लेता है और तब उनके तंग या ढीले होने पर सुन्दर या कुरूप होने पर सन्तुष्ट-असन्तुष्ट होता है।

यह सन्तोष-असन्तोष समाज के शासन की परिधि में नहीं आता, पर साहित्य इसी का मूल्यांकन करता है। दूसरे शब्दों में समाज के दान की जाँच होती है, साहित्य का अर्थ इसी बिन्दु से चलता है।

अतः साहित्यकार का सामाजिक कर्म अन्य कर्मों को तौलने वाले तुला और बाटों से नहीं नप सकता। अन्य क्षेत्रों में समाज अपने सदस्यों की शिक्षा-दीक्षा को अपने आदर्श पर उनकी प्रतिभा और कुशलता के अनुसार उनका कार्य निश्चित कर देता है और उसके परिणाम में उन्हें जीवन-यापन की सुविधायें देता है। दोनों पक्षों का आदान-प्रदान इतने स्पष्ट धरातल पर स्थित है कि उसकी उपयोगिता के विषय में किसी सन्देह का अवकाश नहीं रहता है।

भारी पैनी तलवार गढने वाले लौहकार के कार्य का महत्त्व भी समाज जानता है और हल्की अँगूठी मे रत्नो की बारीक जडाई करने वाले स्वर्णकार की कुशलता का मूल्य भी उसस छिपा नही है। कष्टलभ्य वस्तुओ का क्रय-विक्रय करने वाले व्यापारी की प्रत्यक्ष योग्यता का भी उसे ज्ञान है और मन्दिर मे मौन जप करने वाले पुजारी की अप्रत्यक्ष रचना मे भी उसका विश्वास है। न्यायासन पर दड-पुरस्कार का वितरण करनेवाले न्यायाचार्य के कार्य के विषय मे उसे सन्देह नही है और समाज की नई पीढी को परम्परानुसार शान्त-दान्त बनाने मे लगे शिक्षाशास्त्री के कार्य का भी उसके पास लेखा-जोखा है।

इन विविध कर्त्तव्यो को, उसने अधिकारी व्यक्तियो को स्वय सोपा है और इन कर्त्तव्यो के विषय मे एक परम्परागत शास्त्र भी निश्चित है। वे कैसे करते है यह दूसरा प्रश्न है , परन्तु वे क्या करे और क्या न करें, के विषय में द्विविधा नही है। कठिन दड के पात्र को दड कम मिले, या न मिले यह मतभेद का विषय हो सकता है , परन्तु दड-पुरस्कार-विधान समाज-स्वीकृत है और न्याय का कार्य समाज द्वारा किसी को सौपा गया है। हर सामाजिक सस्था समाज का अग है और वह मनुष्य-जीवन के उन्ही अशो से सम्बद्ध रहती है, जिन पर समाज की सत्ता है। मानव-स्वभाव का जो अश समाज के विधि-निषेध की परिधि के बाहर अस्तित्व रखता है, उसके लिए सामाजिक सस्था नही बनाई जा सकती, पर उस तक समाज के सुख-दुखो की अनुभूति पहुँचाकर उसे समाजोन्मुख किया जा सकता है। पर यह कार्य व्यक्ति करता है, जिसे समाज

के सौन्दर्य और विरूपता, सुख और दुःख की व्यक्तिगत पर तीव्र अनुभूति होती है। समाज अपने अन्य क्षेत्रों के समान उसके क्षेत्र में कोई विधि-निषेध शास्त्र देकर नहीं कह सकता कि मैं कवि नाटककार आदि के कर्तव्य पर नियंत्रण करता हूँ, तुम मेरे विधान के स्थायित्व के लिए कार्य करो।

वस्तुतः समाज किसी साहित्यकार के अन्तर्जगत् की हलचल से परिचित तब होता है, जब वह अभिव्यक्ति पा लेती है। इस अभिव्यक्ति से पहले अनुभावक शक्तियों से और उसकी अनुभूति की तीव्रता से समाज अपरिचित रहता है और यह अपरिचय एक सीमा तक व्यक्ति और समाज को विरोधी पक्षों में भी खड़ा कर सकता है।

साहित्य समाज की अपराजेय शक्ति है, पर क्या इसी तरह निर्झर, पर्वत की अपराजेय शक्ति नहीं है? क्या पर्वत की शक्ति होने के कारण उसे उसकी कठोर शिलाओं से संघर्ष नहीं करना पड़ता? पर्वत से सर्वथा अनुकूल स्थिति रखने के लिए तो उसको सरोवर में नियंत्रित होना पड़ेगा। सन्तान का जन्म माता की पीड़ा का भी जन्म है। इसी प्रकार साहित्य भी, समाज से, समाज के लिए निर्मित होकर भी उसमें कोई उद्वेलन, कोई असन्तोष उत्पन्न करता ही है। ऐसी स्थिति में समाज, साहित्य को सामाजिक और श्रेष्ठ सामाजिक कर्म के रूप में स्वीकार न करे, तो आश्चर्य नहीं। जिस युग में समाज की दबी हलचलें उसके अन्य क्षेत्रों में भी कुछ असन्तोष उत्पन्न करने लगती हैं, उसमें साहित्य स्वतः ही सम्मान प्राप्त कर लेता है, पर जिन युगों में समाज के अन्तर्गत

मन पर जडता का स्तर कठिन हो जाता है, उनमें साहित्य को अकेले जूझना पडता है।

परन्तु साहित्य चाहे जिस भूमिका मे उपस्थित हो, वह मानव जाति का, विकास के समान ही अविच्छिन्न साथी रहता है। प्रत्यक्ष वस्तु सत्य से अप्रत्यक्ष सम्भाव्य सत्य तक उसकी सीमाएँ इस प्रकार फैली रहती है कि मनुष्य उसे अपने अतीत विकास का प्रमाण भी मानता है, वर्तमान का मापदड भी और अनागत भविष्य का सकेतघर भी। सभी देशो में साहित्य का सृजन विशेष प्रतिभा से सम्बद्ध है, और विशेष प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार का विशेष महत्त्व भी सर्व-स्वीकृत है। आज तक प्रतिभा को समान रूप से बाँटने का उपाय विज्ञान को उपलब्ध नही हो सका है, अत साम्योपासक देशो में भी प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकारो को असामान्य स्थिति प्राप्त है।

वस्तुत साहित्य-सृजन समग्र जीवन, समस्त शक्तियो का सश्लिष्ट दान है। जीवन मे कुछ कार्य जीवन-निर्वाह के साधन मात्र है, कुछ जीवन के साध्य है और कुछ साधन-साध्य दोनो का एकीकरण है। केवल वाह्य जीवन में सीमित क्रिया साधन हो सकती है, केवल अन्तर्जगत् मे मुक्त साध्य हो सकती है , परन्तु अन्तर्जगत् की प्रक्रिया का वाह्य रमात्मक अवतरण साधन और साध्य को एकाकार कर सकता है। यह ऐसा दान है, जिसे देकर भी हम पाते है। यह ऐसा स्वार्थ है, जिसे पास रख कर भी हम देते है। पर इस दोहरी स्थिति के कारण ही साहित्यकार के जीवन के साधन और साध्य कुछ रहस्यमय हो जाते है। इस स्थिति को समझने

के लिए ऐसे सजग समाज की आवश्यकता रहती है, जो उसके दिये मूल्य को अधिक न समझे और उसके प्राप्य सम्मान को न्यून न माने।

साहित्य की दृष्टि से हमारा देश इतना अधिक सम्पन्न है कि उसकी मूल्यांकन-शक्ति के विषय में सन्देह कठिन हो जाता है। जीवन के विविध क्षेत्रों में विशेष उपलब्धियाँ प्राप्त करने वालों की जीवन-यात्रा के साथ उसने इस सहज भाव से दिया कि उनके मन में अहंकार का कोई संस्कार नहीं बन सका। साहित्य के विशिष्ट सृजन को उसने इतना महत्त्वपूर्ण और यथार्थ माना कि स्रष्टा का मानवता का दैन्य कभी स्पर्श नहीं कर सका।

इस स्थिति ने विगत वर्षों में समस्याएँ भी उत्पन्न कीं, पर साधारणतः समाज और साहित्यकार में सम्बन्ध स्थापित करने वालों की आकांक्षाओं के लिए अवकाश रह गया। आज की लोक-जीवन और उसके साहित्यकारों की ऐसी स्थिति है जिसमें एक अहंकार से शून्य है और दूसरा दैन्य से आक्रान्त।

जिन वर्षों में हमारा सांस्कृतिक उत्थान अपनी चरम स्थिति में था उनमें भी [illegible] कोनों में रहने वाले साहित्यकार समाज के मन और आत्मा रहे।

उनकी जीवन-यात्रा की व्यवस्था करने वाले लोक के अन्तर्मन में भी कभी यह प्रश्न नहीं उठा कि जीवन-यात्रा के लिए हमारे आश्रित होकर भी वे हमारे शास्ता होने का अधिकार कैसे रखते हैं। जिन साहित्यकारों ने लोक की श्रद्धा का स्वीकार का आदर किया, उनकी स्थिति की समीक्षा भी इसी परम्परागत

सस्कार ने बाँधी। जिस प्रकार घर के छोटे झरोखे से थोडा प्रकाश पाने वाला भी प्रकाश की असीमता की अवज्ञा नही कर सकता, उसी प्रकार सकीर्ण सीमा मे निर्मित साहित्य ने भी विराट् मानवता मे फैले साहित्य से अपने सम्बन्ध का परिचय देकर अपने रचियता को क्षुद्र होने से बचाया। नदी तट बनाती है, पर तटो के साथ तो वह समुद्र मे स्थिति नही रख सकती और यही मुक्ति उसके वन्धन को क्षुद्र नही होने देती।

आज हम विशेष युग में है और सस्कार के नाम पर हमे परम्परा के परिणाम से सघर्ष करना पड रहा है। जुआ उतार कर फेका जा सकता है, पर जुआ वहन करने के परिणाम या प्रमाण जो गर्दन के क्षत या काठिन्य मे अकित हो जाते है, उन्हे काट कर फेक देना सम्भव नही रहता। उस कठोर या आहत स्थान को स्वाभाविक स्थिति में लाने के लिए समय और उपचार दोनो अपेक्षित रहते हैं।

काठिन्य, भार के अति सह्य होने का प्रमाण या स्वाभाविक सवेदनशीलता के न्यून होने की सूचना है, जिसकी उपस्थिति मे भार उतारना व्यर्थ जान पडता है। क्षत, सवेदनशीलता में अस्वाभाविक वृद्धि है, जिसके कारण स्वाभाविक सहनशक्ति नष्ट हो कर तन्तुओ को अक्षम वना देती है।

हमारे जीवन की स्थिति भी बहुत कुछ ऐसी ही है। कही हम रुढियो के अम्वार लाद कर भी भार का अनुभव नही करते और कही हमारे लिए सस्कार का हल्का स्पर्श तक असह्य हो जाता है। दोनो ही स्थितियाँ अस्वाभाविक है।

हमारी स्वतन्त्रता के सात वर्ष व्यतीत हो चुके है। उसे हम अपने राष्ट्र-जीवन का तुतला उपक्रम मात्र नही कह सकते। किसी अन्य अतीत युग मे कहना सम्भव था, परन्तु आज जब समय बैलगाडी रथ छोडकर वायुयान पर उड़ने लगा है, एक केन्द्र मे मुखर होकर ससार भर से बोलने लगा है, एक क्षण को छूकर इतिहास के असख्य पृष्ठ लिखने लगा है, तब हमे अपनी समय सम्बन्धी धारणाएँ भी बदलना चाहिए।

धरती, समुद्र, पर्वत, नक्षत्र तक जब परिवर्तन के अक बनते जा रहे है, तब 'उत्पस्यते मम कोपि समानधर्मा' कहकर अनन्त प्रतीक्षा की समस्या नही रह गई है। लक्ष्य की दिशा मे उठाया पग और लक्ष्य प्राप्ति आज इतने निकट और एक दूसरे के पर्याय है कि मार्ग खोजने, भटकने, पाने की अनेक स्थितियो का एक हो जाना स्वाभाविक है।

इस भूमिका मे जब हम अपने साहित्य और उसके सृष्टाओ को रख कर देखते है, तब साहित्य के भविष्य के लिए चिन्ता स्वाभाविक हो जाती है। कुछ प्रतिष्ठित वयोवृद्ध, अत सरकारी पदो के लिए अनुपयुक्त तथा कुछ अति साधारण, अत सरकारी कार्यों के लिए अयोग्य लेखको को छोड़कर प्राय सभी लेखक सरकारी विभाग मे आश्रय पा गये है। उनके जीवन-यापन की समस्या अवश्य ही सुलझ गई है, परन्तु सुलझाने की विधि ने इस देश की वाणी के अवतरण के मार्ग में एक सब से बडी समस्या उत्पन्न कर दी है।

क्या साहित्य केवल व्यक्तिगत रुचि—हॉबी—मात्र है। क्या उसे

विशेष प्रतिभा द्वारा सपादित और स्थायी महत्त्व का सामाजिक कर्म मानकर अतीत युगो ने भूल की है। क्या अन्य युगो और देशो की उक्त भूल का परिमार्जन करने के लिए ही हमारे यहाँ ऐसी व्यवस्था हो रही है। क्या इस व्यवस्था से साहित्य का लक्ष्य, राजनीतिक लक्ष्य से एकाकार हो सकेगा और क्या इस ऐक्य से साहित्य के मूल्यो की रक्षा और वृद्धि हो सकेगी—ये सभी प्रश्न सामयिक है और हमारे चिन्तन से कोई-न-कोई समाधान चाहते है।

विश्वासी बुद्धि और विवेकी हृदय अपने आप में सब शकाओ का समाधान है। यदि आज हम इन दो विशेषताओ को सुलभ करने की साधना मे लग जायें, तो अन्य समस्याएँ स्वय सुलझ जायेंगी।

हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या

निकट की दूरी हमारे वैज्ञानिक युग की अनेक विशेषताओ मे सामान्य विशेषता बन गई है। जड वस्तुओ मे समीपता स्थिति मात्र है, विकास के किसी सचेतन क्रम मे प्रतिफलित होने वाला आदान-प्रदान नही। एक शिला दूसरी पर गिर कर उसे तोड सकती है, एक वृक्ष दूसरे के समीप रह कर उसे छाया दे सकता है, पर ये सब स्थितियाँ उनका पारस्परिक आदान-प्रदान नहीं कही जायेगी, क्यो कि वह तो चेतना ही का गुण है।

मनुष्य की निकटता की परिणति उस साहचर्य मे होती है, जो बुद्धि को बुद्धि से मिलाकर, अनुभव को अनुभव मे लय कर के, समष्टिगत बुद्धि को अभेद और समष्टिगत अनुभव को समृद्ध करता है। आधुनिक युग अपने साधनो से दूरातिदूर को निकट लाकर स्थिति मात्र उत्पन्न करने मे समर्थ है, जो अभेद बुद्धि और अनुभवो की सगति के विना अपूर्ण होने के साथ-साथ जीवन-क्रम मे बाधक भी हो सकती है।

उदाहरणार्थ, पथ के सहयात्री भी एक दूसरे के समीप होते है, और युद्ध-भूमि पर परस्पर विरोधी सैनिक भी, परन्तु दोनो प्रकार के सामीप्य परिणामत कितने भिन्न है। पहली स्थिति मे एक दूसरे की रक्षा के लिए प्राण तक दे सकता है और दूसरी

समीपता में एक, दूसरे के बचाव के सारे साधन नष्ट कर उसे नष्ट करना चाहता है। हमारे मस्तक पर आकाश में उमडता हुआ बादल और उमडता हुआ बमवर्षक यान दोनो ही हमारे समीप कहे जायेंगे, परन्तु स्थिति एक होने पर भी परिणाम विरुद्ध ही रहेंगे। जिनके साथ मन शकारहित नही हो सकता, उनकी निकटता संघर्ष की जननी है। इसीसे आज के युग में मनुष्य पास है, परन्तु मनुष्य का शकाकुल मन पास आने वालो से दूर होता जा रहा है। स्वस्थ आदान-प्रदान के लिए मनो की निकटता पहली आवश्यकता है।

हमारे विशाल और विविधता भरे देश की प्रतिभा ने अपनी विकास-यात्रा के प्रथम प्रहर में ही जीवन की तत्त्वगत एकता का ऐसा सूत्र खोज लिया था, जिसकी सीमा प्राणिमात्र तक फैल गई। हमारे विकास-पथ पर व्यष्टिगत बुद्धि, समष्टिगत बुद्धि के इतनी समीप रही है और व्यक्तिगत हृदय समष्टिगत हृदय का ऐसा अभिन्न सगी रहा है कि अपरिचय का प्रश्न ही नही उठा। इसी से सम्पूर्ण भौगोलिक विभिन्नता और उसमें बँटा जीवन एक ही सास्कृतिक उच्छ्वास में स्पन्दित और अभिन्न रह सका है।

कही किसी सुन्दर भविष्य मे, अपरिचय इस ऐक्य के सूक्ष्म बन्धन को छिन्न न कर डाले, सम्भवत इसी आशका से अतीत के चिन्तको ने देश के कोने-कोने मे बिखरे जीवन को निकट लाने के साधनो की खोज की। ऐसे तीर्थ, जिनकी सीमा का स्पर्श जीवन की चरम सफलता का पर्याय है, ऐसे पुण्यपर्व, जिनकी छाया में वर्ण, देश, भाषा आदि की भित्तियाँ मिट जाती हैं, ऐसी यात्राएं, जो

देश के किसी खंड को अपरिचित नही रहने देती, आदि आद सव अपरिचय को दूर रखने के उपाय ही कहे जायेंगे।

अच्छे वुने हुए वस्त्र मे जैसे ताना-वाना व्यक्त नही होता, वैसे ही हमारी सास्कृतिक एकता मे प्रयास प्रत्यक्ष नही है। पर है वह निश्चय ही युगो की अविराम और अथक साधना का परिणाम । राजनीतिक उत्थान-पतन, शासनगत सीमाएँ और विस्तार हमारे मनको वाँधने मे असमर्थ ही रहे, अत किसी भी कोने से आने वाले चिन्तन, दर्शन, आस्था या स्वप्न की क्षीणतम चाप भी हमारे हृदय मे अपनी स्पष्ट प्रतिध्वनि जगाने मे समर्थ हो सकी।

जीवन के सत्य तक पहुँचाने वाले हमारे सिद्धान्तो मे ऐसा एक भी नही है,जिसमे असख्य तत्त्वान्वेषियो के चिन्तन की रेखाएँ न हो , उसे शिवता देने वाले आदर्शो मे ऐसा एक भी नही है, जिसमे अनेक साधको की आस्था की सजीवता न हो और उसे सुन्दर वनाने वाले स्वप्नो मे एक भी ऐसा नही है, जिसमे युग-युगो के स्वप्नद्रष्टाओ की दृष्टि का आलोक न हो।

पर नया जल तो समुद्र को भी चाहिए, नदी नालो की तो चर्चा ही व्यर्थ है। यदि अपनी क्रमागत एकता को सजीव और व्यापक रखने में हमारा युग कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नही देता, तो वह अपने महान् उत्तराधिकार के उपयुक्त नही कहा जायगा।

युगो के उपरान्त हमारा देश एक राजनीतिक इकाई वन सका है, परन्तु आज यदि हम इसे सास्कृतिक इकाई का पर्याय मान ले, तो यह हमारी भ्रान्ति ही होगी ।

कारण स्पष्ट है। राजनीतिक इकाई जीवन की वाह्य व्यवस्था

से सम्वन्ध रखती है, अत वह बल से भी बनाई जा सकती है। परन्तु सास्कृतिक इकाई आत्मा की उस मुक्तावस्था मे बनती है, जिसमे मनुष्य भेदो से अभेद की ओर और अनेकता से एकता की ओर चलता है। इस मुक्तावस्था को सहज करने के लिए बुद्धि से बुद्धि और हृदय से हृदय का तादात्म्य अनिवार्य हो जाता है।

इस सबध में विचार करते समय अपने युग की विशेष स्थिति की ओर भी हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक है। हर क्रान्ति, हर सघर्ष और हर उथल-पुथल अपने साथ कुछ वरदान और कुछ अभिशाप लाते है। वर्षा की बाढ अपने साथ जो कूडा-कर्कट बहा लाती है, वह उसके वेग मे न ठहर पाता है और न असुन्दर जान पडता है, पर बाढ के उतर जाने पर जो कूडा-कर्कट छिछले जल या तट से चिपक कर स्थिर हो जाता है, वह असुन्दर भी लगता है और जल की स्वच्छता नष्ट भी करता रहता है। दीर्घ और अनवरत प्रयत्न के उपरान्त ही लहरे उसे धारा के बहाव मे डाल कर जल को स्वच्छ कर पाती है।

बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति हमारे युग की है। सघर्ष के दिनो में राजनीतिक स्वतन्त्रता हमारी दृष्टि का केन्द्र-विन्दु थी और समस्याएँ भी जीवन के उसी अश से सम्वद्ध रह कर महत्त्व पाती थी। परन्तु, स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त सघर्ष-जनित वेग के अभाव मे हमारी गति में ऐसी शिथिलता आ गई, जिसके कारण हमारे सास्कृतिक स्तर का निम्न और जड हो जाना स्वाभाविक था। इसके साथ ही जीवन के विविध पक्षो की समस्याएँ अपने-अपने

समाधान मॉगने लगी। स्वतन्त्रता, अप्राप्ति के दिनो मे साध्य और उपभोग के समय साधनमात्र रह जाती है, इसी से वह अपने आप मे निरपेक्ष और पूर्ण नही कही जायगी। जो राष्ट्र राजनीतिक स्वतन्त्रता को जीवन के सर्वांगीण विकास का लक्ष्य दे सकता है, उसके जीवन में गतिरोध का प्रश्न नही उठता, पर साधन को साध्य मान लेना, गति के अन्त का दूसरा नाम है।

सभ्यता और सस्कृति पर अपना दावा सिद्ध करने के लिए किसी भी समाज के पास उसका लौकिक व्यवहार ही प्रमाण रहता है। अन्य कसौटियॉ महत्त्वपूर्ण हो सकती है, परन्तु प्रथम नही।

दर्शन, साहित्य आदि से सम्बद्ध उपलब्धियाँ तो व्यक्ति के माध्यम से आती है। कभी वे समष्टि की अव्यक्त या व्यक्त प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व करती है और कभी उनका विरोध। एक अत्यन्त युद्धप्रिय जाति मे ऐसा विचारक या साहित्यकार भी उत्पन्न हो सकता है, जो शान्ति को जीवन का चरम लक्ष्य घोषित करे और ऐसा भी जो उसी प्रवृत्ति की महत्ता और उपयोगिता सिद्ध करे।

पर सभ्यता और सस्कृति किसी एक मे सीमित न होकर सामाजिक विशेषता है, जिसका मूल्याकन समाजबद्ध व्यक्तियो के पारस्परिक व्यवहार में ही सम्भव है। वह कृति न होकर जीवन की ऐसी शैली है, जिसकी मिट्टी से साहित्य, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान की कृतियाँ सम्भव होती है।

विगत कुछ वर्षों से हमारे जीवन से संस्कार के बन्धन टूटते

जा रहे है और यदि यही क्रम रहा, तो आसन्न भविष्य में हमारे लिए सस्कृति पर अपाना दावा सिद्ध करना कठिन हो जायगा। हरे पत्ते और सजीव फूल वृन्त से एकरसमयता में बँधे रहतें है, पर बिखरने वाली पँखुडियाँ और झडने वाले पत्ते न वृत्त के रस से रसमय रहते है, न वृक्ष की जीवनी शक्ति से सन्तुलित।

हमारे समाज के सम्बन्ध में भी यही सत्य होता जा रहा है। न वह जीवन के व्यापक नियम से प्राणवन्त है और न अपने देशगत सस्कार से रसमय। उसकी यह विच्छिन्नता उसके बिखरने की पूर्व सूचना है या नही, यह तो भविष्य ही बता सकेगा, पर इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि यह जीवन के स्वास्थ्य का चिन्ह नही।

हमारे विषम आचरण, भ्रान्त असस्कृत आवेग आदि प्रमाणित करते है कि हमारा मनोजगत् ही ज्वरग्रस्त है।

यह सत्य है कि हमारी परिस्थितियाँ कठिन है, पर यह भी मिथ्या नही कि हमारी मानसिक स्थिति हमें न किसी परिस्थिति के निदान का अवकाश देती है और न सघर्ष के अनुरूप साधन खोजने का। हम थकते है , परन्तु हमारी थकावट के मूल में किसी सुनिश्चित लक्ष्य के प्रति आस्था नही है। हमारी क्रियाशीलता रोगी की छटपटाहट और क्षण-क्षण करवटें बदलने की क्रिया है, जो उसकी चिन्तनीय स्थिति की अभिव्यक्ति मात्र है। हर मानव-समाज के जीवन में ऐसे सक्रान्तिकाल आते रहते है, जब उसकी मान्यताओ का कायाकल्प होता है, मूल्याकन के मान नये होते हैं और जन की गति में पुरानी गहराई के साथ नई व्यापकता

का सगम होता है। परन्तु, जैसे नवीन वेगवती तरग का पुरानी मन्थर लहर मे मिलकर अधिक विशाल हो जाना स्वाभाविक और अनायास होता है, वैसे ही सस्कार और अधिक सस्कार, मूल्य और अधिक मूल्य का संगम सहज होता है, सुन्दर और सुन्दरतर, शिव और शिवतर, आशिक सत्य और अधिक आशिक सत्य में कोई तात्त्विक विरोध नही हो सकता। सुन्दरतम, शिवतम और पूर्ण सत्य तक पहुँचने के लिए हमें सुन्दर, शिव और आशिक सत्य को कुरूप, अशिव और असत्य वनाने की आवश्यकता नही पडती और जिस युग का मानव यह सिद्धान्त भुला देता है, उस युग के सामने सत्य, शिव, सुन्दर तक पहुँचने का मार्ग रुद्ध हो जाता है। आलोक तक पहुँचने के लिए जो अपने सब दीपक बुझा देता है, उसे अंधेरे मे भटकना ही पडेगा। किसी समाज को ऐसे लक्ष्य-रहित कार्य से रोकने के लिए अनेक अन्तर-वाह्य सस्कारो की परीक्षा करनी पडती है, निर्माण मे उसकी आस्था जगानी पडती है, सघर्ष को सृजनयोग वनाना पडता है।

आधुनिक युग मे मानसिक सस्कार के लिए दर्शन, आधुनिक साहित्य, शिक्षा आदि के जितने साधन उपलब्ध है, वे न द्रुतगामी है न सुलभ। पर, साधनो की खोज मे हमारी दृष्टि यन्त्र-युग की विशाल कठोरता की छाया मे भी जीवित रह सकनेवाली मानव-सवेदना की ओर न जा सके, तो आश्चर्य की वात होगी।

हमारे चारो ओर कभी प्रदेश, कभी भापा, कभी जाति, कभी धर्म के नाम पर उठती हुई प्राचीरे प्रमाणित करती है कि वौद्धिक दृष्टि से हमारा लक्ष्य अभी कुहराच्छन्न है। पर, जिस दिन

हमारी बुद्धि में अभेद और हृदय में सामञ्जस्य होगा, उस दिन हमारी सास्कृतिक परम्परा को नयी दिशा प्राप्त हो सकेगी। जीवन के नव निर्माण मे साहित्य और कला विशेष योगदान देने में समर्थ है। क्योकि वे मानव-भावना के उद्गीथ है।

जब भावयोगी मनुष्य, मनुष्य के निकट पहुँचने के लिए दुर्लंघ्य पर्वतो और दुस्तर समुद्रो को पार करने मे वर्षों का समय विताता था, उस युग में भी मानवमात्र की एकता के वे ही वैतालिक रहे है।

आज जब विज्ञान ने वर्षों को घटो में बदल दिया है, तब वे मनुष्य को मनुष्य से अपरिचित क्यो रहने दें, बुद्धि को बुद्धि का आतक क्यो बनने दें और हृदय को हृदय के विरोध में क्यो खडा होने दे।

हम विश्व भर से परिचय की यात्रा में निकलने के पहले यदि अपने देश के हर कोने से परिचित हो लें, तो इसे शुभ शकुन ही मानना चाहिए। यदि घर में अपरिचय के समुद्र से विरोध और आशका के काले बादल उठते रहे, तो हमारे उजले सकल्प पथ भूल जायेगे। अत आज दूरी को निकटता बनाने के मुहूर्त में हमे निकट की दूरी से सावधान रहने की आवश्यकता है ।